दक्षिण के संत

[जीवनी-संग्रह]

पहला भाग

प्रकाशक

दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा
मद्रास

हिन्दी प्रचार पुस्तकमाला, पुष्प–297

प्रथम संस्करण

मई, 1972

2

दाम, रु. 4–50

O. No. 648

मुद्रक : दक्षिण भारत प्रेस,
खैरताबाद, हैदराबाद–4

विषय-सूची

प्रकाशकीय

स्वतन्त्र भारत में भावात्मक एकता का संदर्शन वैचारिक एकता के सहारे ही सम्भव है और इस क्षेत्र का सशक्त संबल है साहित्य। मानी हुई बात है कि साहित्यिक आदान-प्रदान द्वारा भारतीय प्रजा में आपसी पहचान और पारस्परिक सौजन्य बढ़ेंगे। पूज्य बापूजी द्वारा संस्थापित तथा संवर्धित दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा का मूल ध्येय भी इसी आदर्श को निभाना रहा है। इसी महत् उद्देश्य से 'दक्षिणी साहित्य माला', 'दक्षिणी-अनुवाद साहित्य माला' आदि प्रकाशन–योजनाओं के अन्तर्गत सभा पिछले वर्षों में कई उत्तम पुस्तकें प्रकाशित कर चुकी। उक्त शृंखला की ताजी कडी के रूप में 'दक्षिण के संत' नाम से कुल 24 संतों की प्रमाणिक जीवनियों के दो भागों को हिन्दी प्रेमी-विज्ञ पाठकों की सेवा में प्रस्तुत करते हुये हमें हर्ष हो रहा है।

'भारतीय संस्कृति भिन्न-भिन्न धर्मों और सम्प्रदायों को एक सूत्र में बांधनेवाली सामासिक संस्कृति है–राष्ट्रपिता गान्धी जी का यह क़ौल अगर सर्वमान्य माना जाय तो यह कथन भी उतना ही सत्य है कि इस संस्कृति के विधाता और प्रचारक देश के भक्त, संत आचार्य रहे हैं। इन सर्वत्यागी फकीरों, अवधूतों तथा सिद्ध-सन्यासियों की रक्तहीन क्रांति की विश्व में कोई मिसाल नहीं मिलती है जिनका जीवन स्वयं जन-गण के लिये खुला ग्रंथ रहा और जिनकी सीधी सच्ची–वाणी दिमाग से अधिक दिल को अभिभूत करती रही है। यही कारण है कि भारतीय समाज में वैचारिक सुधार व परिवर्तन का सही श्रेय राजपुरुषों अथवा सेनापतियों के बदले इन संतों को मिलता रहा है। कहना न होगा कि स्थान और काल के अन्तराल के बावजूद भारतीय संतों के लक्ष्यों में अद्भूत समानता रही है। वह है–गतानुगतिकता से परे नूतन जीवन-दर्शन तथा सर्व मानव भाव।

प्रस्तुत जीवनी-संग्रहों में दक्षिण के चारों भाषाई प्रदेशों के सन्तों को समान प्रतिनिधित्व दिया गया है। धर्म-प्रवर्तक, आचार्य और संत की परिभाषाओं में मत भिन्नता सम्भव है। हो सकता है कि प्रबुद्ध पाठकों को उक्त चयन में संत और आचार्य के मिश्रण का आभास मिले। साथ ही जीवन-संदर्भों के प्रमाणोल्लेख के साथ यत्किंचित दंत कथाओं का भी समावेश होने दिया गया है। इन शास्त्रीय कसौटियों से बचकर उक्त जीवनियों के आस्वादन की, सहृदय पाठकों से हमारी प्रार्थना है। क्योंकि जीवनी महज़ निबन्ध अथवा समीक्षा नहीं है।

प्रस्तुत जीवनी-लेखन में दक्षिण के अनुभवी हिन्दी प्रचारकों व शिक्षकों का महत्वपूर्ण सहयोग हमको प्राप्त हुआ है। सभा के उन सभी हितैषी लेखक-बन्धुओं का एतदर्थ हम हार्दिक आभार मानते हैं।

प्रस्तुत जीवनी-संग्रहों को हिन्दी संसार सोत्साह अपनावे ताकि इसके अगले भागों के भी प्रकाशन की हमें प्रेरणा हासिल हो—यही हमारी प्रार्थना है। साथ ही उक्त जीवनियों की प्रामाणिकता अथवा घटना-वर्णन मूलक गुणी पाठकों के वाजिब सुझावों का भी स्वागत है जिनका कि अगले संस्करणों में सदुपयोग सम्भव है।

—प्रकाशक

संत नम्माळवार

'चर्वितचर्वण' के अनुसार इतिहास में पुनरावृत्ति होती है। भारत-भूमि महान भक्तों, संतों, कवियों, आचार्यों की जन्म-भूमि रही है। भारत में भक्ति का जन्म विशेषतः दक्षिण भारत में ही हुआ। 'भक्ति द्राविड़ ऊपजी, लाये रामानन्द' अर्थात् भक्ति का जन्म द्राविड़ भूमि—दक्षिण भारत मेंहुआ, जिसे संतवर रामानन्द उत्तर भारत ले गये। भक्ति की धारा दक्षिण से निकलकर उत्तर की ओर पहुँचते-पहुँचते चारों ओर हरभरा कर चुकी थी।

दक्षिण भारत में भक्ति आन्दोलन नायन्मारों और आळ्वारों के कारण सफल हुआ। सन् ७०० ई. से आरंभ होकर, लगभग सन् ९०० (ई. तक शैव भक्ति के साथ-साथ तमिळ्नाडु में वैष्णव भक्ति का प्रचार भी होने लगा। नायन्मार जो शिव के भक्त थे, कुल तिरसठ थे। आळ्वार जो विष्णु के भक्त थे, कुल बारह थे, जिन्होंने जनता के बीच, में शैव भक्ति के प्रचार के पूर्व ही वैष्णव भक्ति के प्रचार का आरंभ कर दिया था। इसका उल्लेख हमें—'तिरुमाल्व ळिपाडु', 'तोल्काप्पियम' 'कलितोगै', 'परिपाडल्' जैसे संधकालीन के तमिळ ग्रंथों में मिलता है। आठवीं-नौवीं शताब्दी में भगवान् विष्णु को प्रधान मानकर भक्ति करने

का प्रचार बारह आळवारों के भक्ति-गीतों द्वारा हुआ। ये बारह आळवार १०८ वैष्णवस्थलों की महिमा का गान कर चुके हैं। इन्होंने प्रत्येक मंदिर में जाकर अपने मधुर संगीत द्वारा भगवान विष्णु की स्तुति की है। इन गीतों का संग्रह कर 'नालायिर दिव्य प्रबंधम्' नामकरण किया गया है। श्री नाथमुनि ने इस 'दिव्य प्रबंधम्' और उसके अर्थ को तमिळ्-जनता के सम्मुख प्रस्तुत कर पर्याप्त कीर्ति पायी है।

बारह आळवार यों हैं—(१) पोय्गैयार, (२) भूतत्ताळवार, (३) पेयाळवार, (४) तिरुप्पाणाळवार, (५) तिरुमळिशै आळवार (६) नम्माळवार, (७) मधुर कवियाळवार, (८) पेरियाळवार-(९) आण्डाळ् (१०) तिरुमंगैयाळवार, (११) तोंडरडिप्पोडियाळवार, (१२) कुलशेखराळवार। इन बारह आळवारों में से नम्माळवार का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है।

तमिळनाडु में चेर, चोळ, पांडिय नामक तीन राजवंश के लोग राज्य करते थे। पांडिय राज्य के तिरुनेलवेली जिले में ताम्रवर्णी नदी के तट पर आळवार तिरुनगरी, जिसे तिरुक्कुरुगूर भी कहते हैं, नामक एक विष्णु-स्थल है। इस पवित्र नगरी में भगवान विष्णु के प्रति भक्ति व प्रेम रखनेवाले 'कारि' नामक विष्णुभक्त थे, जो कृषक जाति के थे। इस विष्णुभक्त का विवाह तिरुवण् परिचारम् नामक पुण्य स्थल में रहनेवाले तिरुवाळमार्बर नामक सज्जन की पुत्री उडैयनंगैयार् से हुआ था। कारि व उडैयनंगैयार् का वैवाहिक जीवन सुखपूर्ण था। किसी वस्तु की कमी नहीं थी। बस, यह एकमात्र कमी थी कि उनके कोई संतान नहीं थी। संतान-हीनता ही उनके जीवन की बहुत बड़ी वेदना की बात थी। अंत में इस दंपति ने संतानार्थी होकर तिरुक्कुरुंगुडी नामक पुण्य स्थल में स्थित भगवान एंपेरुमान् की सेवा की। भगवान ने उन संतानार्थियों की प्रार्थना सुन ली। भगवान एंपेरुमान् की कृपा से उडैयनंगैयार ने वैशाख मास के विशाखा नक्षत्र के शुभ दिन में एक पुत्ररत्न को जन्म दिया। पूर्व दिशा जैसे सूर्य को जन्म देती है, वैसे ही उडैयनंगैयार ने सूर्य के जैसे प्रभावशाली पुत्ररत्न को जन्म दिया, ऐसा कहा जाता है।

माता-पिता ने इस शिशु का नाम 'मारन्' रखा। इस शिशु को शठकोपन्, कारिमारन्, नम्माळ्वार् आदि नामों से भी पुकारते हैं।

आळ्वार के जन्म के पूर्व ही श्री आदिशेष उस तिरुक्कुरुगूर के पास इमली के पेड का रूप ले चुके थे। आळ्वार को भगवान विष्णु का अंश ही कहा जाता है। आळ्वार का जन्म जिस पवित्र गृह में हुआ था, अदृश्य रूप से भगवान विष्णु वहाँ प्रवेश कर उस शिशु को ज्ञानरूपी अमृत का पान कराकर चले गये। इस कारण से वह शिशु सदा भगवान विष्णु का अपने मन में ध्यान करने लगा। अतएव वह शिशु अन्य शिशुओं के जैसे माता का स्तन्य-पान करने, क्रन्दन करने, नेत्रों को खोलकर चारों ओर देखने आदि से दूर रहा। इससे उस शिशु के माता-पिता दोनों दुःखी हुए। उन्होंने समझा कि यह भगवान एंपेरुमान् की कृपा ही है। उन्होंने तिरुक्कुरुंगुडी के भगवान से प्रार्थना भी की। भगवान ने उनको स्वप्न में दर्शन देकर बताया कि मेरे अंश से ही तुम्हारे पुत्र का जन्म हुआ है। इससे माता-पिता चिंतामुक्त हुए।

मारन नामकरण के पश्चात् उस नगर के मंदिर में भगवान के सम्मुख उस शिशु को छोड़ा गया। वह शिशु शेषनाग के अंशरूपी उस इमली के पेड़ के तले जाकर ध्यान में लीन हो गया। इसके पूर्व ही भगवान विष्णु की आज्ञा से उनके दूत तिरुक्कुरुगूर आकर शिशु आळ्वार को तत्त्वों का उपदेश देकर चले गये थे। सब तत्वों के ज्ञान के कारण उक्त इमली के पेड़ के तले सोलह वर्ष पर्यंत आळ्वार योगाभ्यास में लीन रहे। इन सोलह वर्षों में आळ्वार ने अपनी आँखें नहीं खोलीं, किसीसे वार्तालाप तक नहीं किया। सदैव भगवान के ध्यान में ही लीन रहे।

आळ्वार से मधुर कवि की भेंट:

पांडिय राज्य में सुजला सुफला सस्यश्यामला तिरुक्कोळूर नामक पुण्य नगरी है। इस नगरी के एक विप्र वंश में नम्माळ्वार के अवतार के पूर्व ही मधुर कवि का जन्म हुआ था। ये तमिळ और संस्कृत दोनों भाषाओं के विद्वान थे। भगवान विष्णु के प्रति भक्ति, प्रेम, श्रद्धा रखनेवाले थे।

मधुर कवि को अयोध्या, मथुरा, माया, काशी, कांची, अवंति, द्वारका जैसे मोक्ष–प्रदान करनेवाले सप्त पुण्य-स्थानों के दर्शन करने की इच्छा हुई। तदनुसार सप्त पुण्य-स्थानों के दर्शन कर अंत में अयोध्या में ठहरे थे। एक दिन रात उनको अपनी जन्मभूमि तिरुक्कोळूर का स्मरण हो आया, तो उस दिन रात उस दिशा की ओर मुख करके नतशिर होकर प्रणाम किया जिस दिशा में भगवान विष्णु का मंदिर था। तब दक्षिण दिशा में एक दिव्य प्रकाश दिखाई पड़ा। उसे देखकर उन्होंने सोचा—'इस नगर के बाहर आग लग गयी है? अथवा दावानल है?' इस प्रकार लगातार उनको वह दिव्य प्रकाश दिखाई देता रहा। तब उन्होंने सोचा कि यह कोई अद्भुत प्रकाश हो सकता है। अतएव उसे अवश्य देखना है। ऐसा सोचकर दूसरे दिन रात उस प्रकाश की ओर निकल पड़े।

दिव्य प्रकाश की दिशा की ओर अग्रसर होते-होते वह प्रकाश दक्षिण दिशा की ओर ही बढ़ता जाता था। रात में वह प्रकाश दिखायी पड़ता था और दिन में अगोचर हो जाता था। तब मधुर कवि रात-भर उस प्रकाश का अनुसरण करते, दिन होते ही उसी स्थान पर ठहर जाते जहाँ दिन हो जाता। इस प्रकार रात-भर चलना, दिन-भर आराम लेना—इस तरह सब पुण्य-स्थलों को पार करते हुए तमिळनाडु के श्रीरंगम क्षेत्र को भी पार कर पाण्डिय राज्य में पहुँचे। पर वह प्रकाश तो आगे-आगे बढ़ता ही चला। इस प्रकार चलते-चलते मधुर कवि तिरुक्कुरुगूर पहुँचे। तिरुक्कुरुगूर पहुँचते ही वह दिव्य प्रकाश वहाँ के मंदिर के भीतर प्रवेश कर अदृश्य हो गया। मधुर कवि ने उस पुण्य नगरी के कुछ लोगों से पूछा कि इस मंदिर में कोई विशेषता है क्या? तब लोगों ने नम्माळ्वार के अवतार के संबंध में आश्चर्यभरी बातें बतायीं। तुरंत मधुर कवि ने मंदिर के भीतर प्रवेश कर इमली के पेड़ के तले ध्यान में लीन नम्माळ्वार को देखा।

नम्माळ्वार को देखते ही मधुर कवि उनकी दिव्य कांति से आकृष्ट हुए। पर आळ्वार तो आँखें बंदकर पूरे ध्यानलीन थे। 'ये दिव्य पुरुष आँखें खोलकर मुझपर कृपा करेंगे कि नहीं?'—इस अभिप्राय से

मधुर कवि ने अपने दोनों हाथों से ध्वनि पैदा की। तुरंत आळ्वार ने अपनी आँखें खोलकर मधुर कवि को अच्छी तरह देखा। आळ्वार को देखकर मधुरकवि ने उनसे वर्तालाप करने की अभिलाषा से पूछा, "शॅत्त-दिन् वयिट्रिल् शिरियदु पिरन्दाल्, ऍत्तै त्तिन्रु ऍङ्गे किडक्कुम्?" अर्थात् मृत के गर्भ में यदि छोटा कोई जीव जन्म ले, तो वह क्या खाकर कहाँ पड़ा रहेगा? इसके उत्तर में आळ्वार ने बताया, 'अत्तै-त्तिन्रु अंगे किडक्कुम्' अर्थात् उसे खाकर वहीं पड़ा रहेगा।

(उपर्युक्त प्रश्नोत्तर का सार है—'प्रकृति से निर्मित निर्जीव शरीर में अणुवत् आत्मा प्रवेश कर किसे भोग कर कहाँ सुख की प्रतीक्षा करती है?' 'शरीर के संपर्क से शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध इन पंचेद्रियों की क्रियाओं के कारण सुख-दुःख का अनुभव करते हुए "मैं सुखी हुआ, दुःखी हुआ" ऐसा कहकर आत्मा शरीर में रहती है। आत्मा अपने कर्मानुसार शरीर को धारण कर सुख-दुःख का अनुभव करते हुए शरीर में ही रहेगी।)

आळ्वार का उत्तर सुनकर मधुर कवि ने सोचा कि अयोध्या में रहते समय दिव्य प्रकाश के रूप में दिखाई पड़नेवाले यही महात्मा थे। आळ्वार को ही अपने गुरु के रूप में स्वीकार कर, तुरंत मधुर कवि ने उनके चरणकमलों में साष्टांग प्रणाम किया और उठकर भक्ति-श्रद्धा से करबद्ध होकर प्रार्थना करने लगे, "मेरे प्रिय गुरुवर्य, सेवक पर कृपा दृष्टि रखिये।"

मधुर कवि को अपना शिष्य मानकर आळ्वार ने "चित्", "अचित्" "ईश्वर", इन तत्वों के बारे में उन्हें सविस्तार समझाया तथा और भी अनेक तत्वों का उपदेश देकर मधुर कवि पर अपने प्रेम की वर्षा की।

संसार की ओर अभिमुख होना :

अब तक नम्माळ्वार सांसारिक प्रवृत्तियों से विमुख थे। सदाकाल भगवान के चिंतन–मनन में ही लीन थे। अब मधुर कवि के कारण संसार कीओर अभिमुख हुए और भगवान के चिंतन–मनन से प्राप्त प्रसन्नता

की अधिकता के कारण भावावेश से भगवान का गुणगान करने लगे। इस तरह के गीत—"तिरुवृत्तम्", "तिरुवाशिरियम्", "पेरिय तिरुवंतादि" "तिरुवाय्मोळि" नामक चार संग्रहों में संगृहीत हैं। वैष्णव लोग इन चारों को चार वेद मानते हैं। अर्थात् "तिरुवृत्तम्" ऋग्वेद है, तिरुवाशिरियम् यजुर्वेद है, पेरिय तिरुवंतादि अथर्ववेद है और तिरुवाय्मोळि सामवेद है। सचमुच उपर्युक्त चारों संग्रहों में चारों वेदों के सार तत्त्व भरे हुए हैं।

आळ्वार ने इस प्रकार भगवान के सेवकों के लिए अमृत के जैसे मधुर गीतों की रचना कर सबपर अपार प्रेम की वर्षा की। भगवान के चिंतन-मनन में ही रहते हुए, उसी इमली के वृक्ष तले बत्तीस वर्ष की उम्र तक जीवित रहकर इस नश्वर संसार से मुक्त होकर अमर लोक पहुँच गये।

आळ्वार की झाँकी :

धर्मार्थ काम मोक्ष नामक चतुर्विध फलों में अंतिम 'मोक्ष' को आळ्वार प्राप्त कर चुके थे। बारह आळ्वारों में नम्माळ्वार का स्थान सबसे श्रेष्ठ है। यद्यपि सभी आळ्वार श्रेष्ठ ही माने जाते हैं, तो भी नम्माळ्वार का स्थान उन सब में अत्यंत श्रेष्ठ है। अन्य आळ्वारों को एकेक अवयव मानकर नम्माळ्वार को अवयवी कहते हैं। श्री नम्माळ्वार का 'प्रबंध जन गूढस्थ' एक विशेष नाम भी रहा है। 'प्रबंध जन गूढस्थ' का अर्थ होता है—प्रपत्ति मार्ग का अनुष्ठान करनेवाले सब वैष्णवों का नायक। आळ्वार की चार रचनाओं में चौथी 'तिरुवाय्मोळि की अधिक महत्ता है। 'आचार्य हृदय' नामक रचना में नम्माळ्वार की श्रेष्ठता, उनकी रचनाओं की श्रेष्ठता, विशेषतः तिरुवाय्मोळि की श्रेष्ठता सुन्दर ढंग से वर्णित हैं।

श्री नम्माळ्वार ने अपने पदों में (तमिळ में इन्हें 'पासुरम्' कहते हैं) कुल पैंतीस पुण्य-स्थलों के बारे में 'मंगळाशासन' किया है। प्रत्येक पुण्य-स्थल के बारे में अलग-अलग गाया गया है। पाण्डिय राज्य में जन्म

लेने के कारण पाण्ड्य राज्य के पुण्य-स्थलों पर विशेष रूप से गाया है। मलैनाडु अर्थात् केरळ के पुण्य-स्थल, जैसे तिरुवनंतपुरम आदि पर भी गाया है। तिरुपति के श्री वेंकटेश्वर के बारे में भी गाया है। 'तिरुवृत्तम्' में विशेष स्थान तिरपति को ही दिया गया है। इस प्रकार अंतिम समय तक नम्माळ्वार ने भगवान के स्मरण में गीत गाते हुए तथा मधुरकवि को भी उपदेश देते हुए अपने अवतार को सफल बना लिया।

वैष्णवों का अभिप्राय है कि नम्माळ्वार सदैव भगवान विष्णु के चरण-कमलों में विराजमान हैं। अतएव जो भक्त भगवान विष्णु के दर्शन करने वैष्णवालय जाते हैं, उन भक्तों के सिर पर 'शठकोप' अथवा 'शठारि' कहे जानेवाले उनके पवित्र चरणों का स्पर्श कराते हैं। 'शठकोप', 'शठारि' ये नम्माळ्वार के ही अन्य नाम हैं।

श्री नम्माळ्वार के संपर्क-लाभ से मधुरकवि ने अधिक भक्ति व प्रेम से उनको साक्षात् भगवान ही मान लिया और उनके नाम पर दस पदों में गा लिया। ये सब पद एक संग्रह के रूप में हैं। 'कण्णिनुण् चिरुत्तांबु' से इस संग्रह का आरंभ होता है। इसी नाम से यह 'नालायिर दिव्य प्रबंधम्' में जोड़ा गया है।

मधुर कवि नम्माळ्वार के लिए मंदिर बनवाकर आजीवन उनकी आराधना करते थे। नम्माळ्वार के जन्म-स्थल होने के कारण 'तिरुक्कुरुगूर' का नाम 'आळ्वार तिरुनगरि' हो गया। केवल वैष्णव धर्मसंबन्धी पुस्तकों में तिरुक्कुरुगूर नाम है।

नम्माळ्वार और तिरुवाय्मोळि :

आळ्वारों की सर्वत्र प्रशंसा होती है। उनमें नम्माळ्वार सबसे श्रेष्ठ माने जाते हैं। नम्माळ्वार की रचनाएँ बहु प्रशंसित हैं। उनकी कुल रचनाएँ चार हैं, जिनमें अंतिम रचना 'तिरुवाय्मोळि' सबसे अधिक प्रशंसित है। इसे सामवेद का सार कहते हैं। इस तिरुवाय्मोळि की प्रशंसा में तमिळ और संस्कृत में अनेक रचनाएँ हुई हैं।

नम्माळ्वार के जीवनकाल में ही उनके शिष्य मधुर कवि ने अपने गुरुदेव तथा उनकी रचनाओं की प्रशंसा करते हुए 'कण्णिनुण् चिरुत्तांबु' नाम से दस पदों (पासुरम्) से युक्त एक ग्रंथ की रचना की। अपने गुरुदेव और उनकी रचनाओं की नाना विध प्रशंसा करते हुए मधुरकवि ने कहा है—"नम्माळ्वार के पदों के गान करने में मुझे बड़ा आनन्द होगा। वे ही मेरे प्रत्यक्ष देव हैं। उनके सिवा मैं किसी और देव को नहीं जानता। उनके पदों को मधुर रीति से गाना ही मेरे लिए संतोष का कालक्षेप होगा।" इससे हमें ज्ञात होता है कि मधुरकवि ने अपने गुरु नम्माळ्वार को कितना गौरव दिया और उनकी महिमा का वर्णन कितने आदर के साथ किया।

तमिळ के प्रसिद्ध कविसार्वभौम कंबर ने भी नम्माळ्वार की सच्चे हृदय से प्रशंसा करते हुए 'शडगोपरंतादि' नामक एक श्रेष्ठ रचना की है। इस रचना में एक सौ पद हैं। इस रचना में कविसार्वभौम कंबर ने नम्माळ्वार की अपेक्षा उनकी 'तिरुवाय्मोळि' की सच्ची प्रशंसा की है। कविसार्वभौम ने कहा है कि भगवान विष्णु के भक्ति-गीतों में नम्माळ्वार की तिरुवाय्मोळि की प्राप्ति बड़े भाग्य की बात है। 'तिरुवाय्-मोळि' को 'आरावमुदक् कवियायिरम्' कहते हैं। श्रीमणवाळ मामुनि द्वारा विरचित 'तिरुवाय्मोळि नूट्रंतादि' में तिरुवाय्मोळि के प्रत्येक भाग का तात्पर्य एक-एक पद में सार-संक्षेप से बताया गया है।

आळ्वार तिरुनगरि में नम्माळ्वार की परंपरा के कुछ कवियों ने नम्माळ्वार की श्रेष्ठता तथा उनकी रचनाओं की विशेषता के बारे में कई रचनाएँ की हैं। उन रचनाओं में से— 'मारनलंकारम्', 'मारन पाप्पा-विनम्', 'मारन तिरुप्पदिक्कोवै', 'मारनगप्पोरुळ्' आदि मुख्य हैं। तिरु-वेंकडक्कविरायर नामक कवि की लिखी 'मारन कोवै' एक श्रेष्ठ रचना है। द्राविड़ वेदोपनिषद् संगति, द्राविड़ वेदोपनिषद्-तात्पर्य-रत्नावली नामक दो संस्कृत ग्रंथ तिरुवाय्मोळी की प्रशंसा में निकले हैं। इन दो संस्कृत ग्रंथों का अर्थ हुआ कि नम्माळ्वार की तिरुवाय्मोळि श्रेष्ठ ही नहीं, उत्तम भी है। तिरुवाय्मोळि एक सहस्र तेलुगु तथा एक सहस्र संस्कृत की कविताओं

में भी संगृहीत हैं, जिसे 'आंध्रगीर्वाण सहस्रम्' कहते हैं। इसी प्रकार कन्नड भाषा में भी इसकी रचना हुई है। इन विभिन्न भाषाओं की रचनाओं से ज्ञात होता है कि तिरुवाय्मोळि का काव्य-सौंदर्य, साहित्यिक स्वाद, अर्थ व भाव सौंदर्य सब कुछ अतुलनीय बन पड़ा है। तिरुवाय्मोळि श्रेष्ठतम रचना है। अतएव अन्य श्रेष्ठ तमिळ ग्रंथों के लेखक इस तिरुवाय्मोळि में साहित्य, व्याकरण, अलंकार, रस, छंद आदि के लिए उदाहरणों का उल्लेख करते हैं। सचमुच तमिळ भाषा में ही नहीं, भारत की अन्य भाषाओं में भी तिरुवाय्मोळि का श्रेष्ठ स्थान है। यह तमिळ भाषा-भाषियों के लिए बड़े गर्व की बात है।

जीवन-दर्शन :

नम्माळ्वार की रचनाओं से उनके जीवन के बारे में और भी बातें मालूम होती हैं। कथा प्रचलित है कि नम्माळ्वार के माता-पिता श्री कारि-यार और उडैयनंगैयार संतान के बिना दुःखी थे। तिरुक्कुरुंगुडि के भगवान नंबि से प्रार्थना कर, उनकी कृपा से नम्माळ्वार को प्राप्त किया।

> "कोडुंगार शिलैयार तिरुकोळ्ळुवार कोलैयिल् वैय्य
> कडुंगा लिळञ्नार तुडिपडुङ कौवे त्तरुविनैयेन्
> नेडुंगालमुम् कण्णन् नीण्मलर्प्पादम् परविप्पॅट्र
> नोडुंगालोॅचियुम् इडैयिळमान् चेन्र सूळकडमे।"

यह सैंतीसवाँ पद है। नायक के साथ जाते समय का है। इसमें नायिका की माता अपनी पुत्री के नायक के साथ चले जाने से दुःखित होती है। यहाँ नम्माळ्वार ने एक नायिका की स्थिति में अपने को पाकर उसी परिस्थिति में नायिका का नायक के साथ चले जाने से उसकी माता कितने दुःख का अनुभव करती है—यह वर्णित किया है। माता अपनी पुत्री के प्रति वात्सल्य के कारण जो गाती है, वह अवतारी पुरुष नम्माळ्वार के मुँह से निकला है। उपर्युक्त पद में अंतिम दो पंक्तियाँ—"नेडुंगालमुम् कण्णन् नीण्मलर प्पादम् परविप्पॅट्र इळमान्, नोडुंगालोॅचियुम् इडै इळमान्" अर्थ

को स्पष्ट करती हैं कि उडयनंगैयार ने अनंत काल तक भगवान विष्णु के चरणों की सेवा और भक्ति कर उनकी कृपा से नम्माळ्वार को प्राप्त किया। यहाँ नम्माळ्वार ही नायिका है, जो अच्छे केशोंवाली है (नरुकूर्न्दार शंख्व-मगळ्), विशेष जन्म देकर प्रेम व वात्सल्य से पालित है, बहुत कोमल है। नायिका के सब गुण नम्माळ्वार में दिखायी पड़ते हैं।

कहा जाता है कि नम्माळ्वार शिक्षा प्राप्त किये बिना ज्ञानी हो गये।

"अरिया कालत्तुळ्ळ अडिमैक्कण् अन्बु सेय्वित्तु
अरिया मामायत्तु अडियेनै वैत्ताल्।"

ये तिरुवाय्मोळि की पंक्तियाँ हैं। ज्ञानप्राप्ति के पूर्व ही अर्थात् अल्पायु में ही नम्माळ्वार भगवान से प्रेम करनेवाले थे। इस प्रकार प्रेम करने का आशीर्वाद भगवान ने नम्माळ्वार को प्रदान किया। उपर्युक्त पंक्तियों से ज्ञात होता है कि नम्माळ्वार विद्याभ्यास के बिना ज्ञान प्राप्त करनेवाले ज्ञानी थे। नम्माळ्वार के अनेक नाम हैं, जैसे शठकोपन, मारन। कारि के पुत्र होने के कारण कारिमारन भी एक नाम है। पश्चात् लोगों ने उनके महत्व को व्यक्त करने के लिए 'नम्माळ्वार्' नाम रखा।

"नम्पेरुमाळ् नम्माळ्वार नंजीयर नंपिळ्ळै
एन्परवर् तम् एट्रत्ताल्"

ऐसा 'उपदेश रत्नमाला' में कहा गया है। उपर्युक्त नामों में 'शठ-कोपन' नाम बहुत प्रचलित है। तिरुवृत्तम् के अंत में, तिरुवाय्मोळि के प्रत्येक पद के अंत में फलश्रुति बतानेवाला एक-एक पद रचित है। उनमें अधिकतर—'कुरुगूर शठकोपन' नाम ही दर्शित है। 'मारन' छह स्थानों में बताया गया है। कुछ स्थानों में उनके पिताजी का नाम जोड़कर 'कारिमारन' बना है। 'मारन' ही वास्तविक नामकरण है। तिरुक्कुरुगूर को 'वळुदिनाडु', या 'वळुदिवळनाडु', कहते हैं। ये दोनों नाम आम तौर पर—पांडियनाडु का अर्थ भी प्रकट करते हैं। एक स्थान में—'तेन्नन कुरुगूर शठकोपन' कहा गया है।

नम्माळ्वार ने अपने जन्म-स्थान कुरुगूर की अनेक स्थानों में अनेक रीति से प्रशंसा की है। नम्माळ्वार को मौलसिरी पुष्प बहुत अभीष्ट था। अतएव मौलसिरी के पुष्प की माला को श्रेष्ठ समझकर नम्माळ्वार को अर्पित करते हैं। इसके समर्थन में तिरुवाय्मोळि के पद के अंत में ऐसा कहा गया है—

"नाट्कमळ् मगिळ्मालै मार्विनन् मारन् शठगोपन्" अर्थात् मारन् शठगोपन सुवासनायुक्त मौलसिरी-पुष्प माला को पहने हुए हैं।

आळ्वार का भगवत्-प्रेम :

नम्माळ्वार जन्म से ही भगवान एम्पेरुमान से अधिक प्रेम करते थे। उसी भगवत्-प्रेम को अपना सुख-सौभाग्य मानते थे। भगवत्-प्रेम के सम्मुख सांसारिक सुखों की थोड़ी भी इच्छा नहीं की। जो सांसारिक सुखों की इच्छा नहीं रखता है, वह पुण्यात्मा है। सचमुच नम्माळ्वार पुण्यात्मा थे।

"अरियाक् कालत्तुळ्ळे अडिमक् कण् अन्बु शॅय्वित्तु"

के अनुसार बाल्यावस्था से ही भगवान एंपेरुमान से प्रेम करने के कारण सांसारिक सुख-भोग में लीन हुए बिना सदा-सर्वदा भगवान के प्रेम में डूबे रहते थे। उनकी रचनाओं की ओर ध्यान देने से यह बात ज्ञात हो जाती है।

"पेण्गळिन् काम वलैप्पट्टु उळन्रेन्"

–अर्थात् नारियों के मोहजाल में पडकर नहीं तड़पता। नम्माळ्वार ने ऐसा नहीं बताया है। बाल्यावस्था से ही भगवत्-प्रेम में लीन रहे। सांसारिक ज्ञानप्राप्ति के पूर्व से ही भगवान के प्रेम में लीन थे। नम्माळ्वार को सब कुछ कृष्णमय दीखता था। उनका विचार था—खाने का भोजन, पीने का पानी, चबायी जानेवाली पान, सुपारी सब कुछ कृष्ण से प्रेम करने का ही फल है। सबमें कृष्ण का ही रंग था। संत कबीर का भी विचार नम्माळ्वार के जैसे ही था :—

कबीर :—

लाली मेरे लाल की, जित देखौं तित लाल।
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गइ लाल।।

भक्त सूरदास का भी भाव वैसे ही था—

जित देखौं तित श्याममयी है;
श्याम कुंज, वन, यमुना, श्याम;
श्याम गगन-घन-घटा छाई है।

भक्त सूरदास तथा संत कबीर के जैसे ही नम्माळ्वार की दृष्टि में सब कुछ कृष्णमय था। ठीक ही है—भक्त के लिए 'सर्वं कृष्णमय जगत्।'

नम्माळवार की भक्ति का रूप:

बाल्यावस्था से ही भगवान एंपेरुमान के प्रति आळ्वार का प्रेम दिन ब दिन बढ़ता गया। नम्माळ्वार का विचार था—'भगवान का प्रेम से स्मरण करना, भगवान की प्रेम से वन्दना करना है।' यह विचार मात्र नहीं था, स्वाभाविक हो गया था। भगवान का स्मरण करना, भगवान की वन्दना करना ये—दोनों ही उनके प्राण हो गये। सारा समय भगवान के प्रेम में, प्रेम के स्मरण में व्यतीत हो जाता था। कोई भी ऐसा समय न था जबकि उन्होंने भगवान का प्रेम-स्मरण नहीं किया हो व वन्दना नहीं की हो। उठते-बैठते, खाने-पीते, सोते-जागते, नहाते-धोते, अंत में साँस लेते—छोड़ते, देखते-सुनते, अर्थात् प्रतिदिन के प्रत्येक कार्य के समय भगवान का स्मरण, भगवान का वन्दन ही, और कुछ नहीं। भगवान के प्रेम व उनके स्मरण के सिवा वे नहीं रह सके। भगवान का प्रेमस्मरण ही उनको शक्ति, संतोष, उत्साह प्रदान करता था। 'अन्नगतप्राणं' के अनुसार भगवान ही नम्माळ्वार के प्राण हो गये। भोजन बिना रहना सुलभ है, पर भगवान के प्रेम बिना रहना अत्यंत कठिन है। भगवान ऍम्पेरुमान (ऍम्पेरुमान-कृष्ण, विष्णु के

पर्यायवाची हैं) नम्माळ्वार की सारी-धमनियों में व्याप्त थे। माँ की गोद के बिना शिशु के लिए जैसे कोई और आधार नहीं, वैसे ही भगवान ऍम्पेरुमान के सिवा नम्माळ्वार का कोई और आधार नहीं• ऍम्पेरुमान भगवान ही सब कुछ था।

"माता रामो, मत्पिता रामचन्द्रो, भ्राता रामो, मत्सखा राघवेशः।
सर्वस्वं मे रामचन्द्रो दयाळुर्नान्यं दैवं नैव जाने न जाने ॥"

के अनुसार वे ऍम्पेरुमान के प्रेम में भरपूर लीन थे। ऍम्पेरुमान के प्रेम और प्रेम-स्मरण के बिना वे रह नहीं सके। नम्माळ्वार का मन ऍम्पेरुमान का प्रेमस्रोत हो गया। आळ्वार प्रपत्ति का पालन करनेवाले थे, परंतु ऍम्पेरुमान की भक्ति, ऍम्पेरुमान का प्रेम—इनके बिना वे जीवित नहीं रह सके।

लोगों के मन में दो कारणों से प्रेम उत्पन्न होता है। नेत्र, चर्म, कान, नाक, जिह्वा इन पंचेद्रियों की सहायता से शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध द्वारा प्रेम अथवा सुख का अनुभव होता है। मनुष्य जब अपने बंधु-बांधवों, इष्ट-मित्रों, सुन्दर दृश्यों आदि को देखता है, तब सुख का अनुभव करता है। माता-पिता को अपने शिशुओं की तोतली बातों से मधुर संगीत आदि के श्रवण के समान सुख का अनुभव होता है। इस प्रकार इन पंचेद्रियों के कारण सुख का अनुभव होता है। इन इन्द्रियों के बिना भी मन में सुख का अनुभव साध्य है। इस प्रकार का सुख ही श्रेष्ठ माना जाता है। दुःख का, कष्ट का, पीड़ा का, वेदना का कार्य करते हुए भी सुख का अनुभव पाया जा सकता है।

भगवद् गीता में बताया गया है कि आत्मा के द्वारा मानसिक संतोष प्राप्त करनेवाला स्थितप्रज्ञ है। "भिक्षा की याचना करूँगा। भिक्षा के बिना उपवास रहूँगा। परंतु चोरी नहीं करूँगा। कारण, चोरी करना नीचतम काम है और दण्डनीय है। इस सिद्धान्त से जो आत्मतोष होता है, वही श्रेष्ठ है। मानसिक संतोष ही सर्वश्रेठ माना जाता है।

एक सद्गृहस्थ अपने परिवार के सुख के लिए अत्यंत परिश्रम करता है। इस परिश्रम में होनेवाले दुःख व कष्ट की चिंता नहीं करता। बल्कि परिश्रम से सुख का ही अनुभव करेगा। कारण, परिश्रम के फलस्वरूप परिवार को सुख मिलेगा।

'सुख—दुःख' ये दोनों अपने-अपने मन के विचार मात्र हैं। अतएव, शरीर के बिना, शारीरिक कष्ट होते हुए भी, मन में सुख का अनुभव होता है। इस प्रकार शारीरिक सुख की अपेक्षा मानसिक सुख ही श्रेष्ठ माना जाता है।

नम्माळ्वार की स्थिति इसी प्रकार की थी। अपने आराध्य देव ऍम्पेरुमान का प्रेम-स्मरण करते करते उनके मन में फूट निकलनेवाला सुख व प्रेम का स्रोत अशरीरी और प्राण से संबंधित हैं।

पंचेन्द्रियों के सुख का अनुभव जब उनसे संबंधित वस्तुएँ सम्मुख न हों, तब नहीं होता। परंतु, नम्माळ्वार चर्मचक्षुओं से देखे बिना ज्ञान-चक्षुओं से भगवान को देखकर आनन्दानुभव करने लगे थे। ऍम्पेरुमान के स्मरण-मात्र से उनको सुख का अनुभव हो जाता था। अतएव उनसे प्रेम में, उनके सुख में किसी प्रकार की बाहरी बाधा नहीं थी। सांसारिक विभिन्न वस्तुओं से जो सुख प्राप्त होता है, वही सुख नम्माळ्वार को भगवान के प्रेम-स्मरण से प्राप्त हो जाता था।

"तेनुम् पालुम् कन्नलुम् अमुदमागित्तित्तिप्प,
यानुम् ऍम्पिरानैये एत्तिनेन् यान् उय्वाने!"

अर्थात्—मधु, क्षीर, शर्करा, अमृत इन सबका मधुर सुख केवल ऍम्पेरुमान् के प्रेम-स्मरण से ही मुझे प्राप्त होता है। नम्माळ्वार का विचार है कि पंचामृत का स्वाद-सुख ऍम्पेरुमान के स्मरण मात्र से हो जाता है। अतएव वे कहते हैं—मैं सदाकाल ऍम्पेरुमान का स्मरण करता रहूँगा। ऍम्पेरुमान के प्रेम-स्मरण के सुख के कारण ही मैं अब तक जीवित हूँ। नहीं तो मैं जीवित नहीं रह सकता था। भगवान का प्रेम-स्मरण ही, इस

सांसारिक जीवन के लिए जैसे खान-पान है, वैसे मेरे लिए है। जैसे-जैसे भगवान का स्मरण करता जाता हूँ, वैसे-वैसे ही पूर्वाधिक सुख-संतोष का अनुभव होता है। यह सुख-संतोष पुराना न होकर सदा नया ही रहता है। भगवान के प्रेम-स्मरण से प्राप्त होनेवाला सुख पंचेन्द्रियों से प्राप्त होनेवाले सुख से भिन्न है। पंचेन्द्रियों के सुख से परे अलौकिक सुख का अनुभव प्रदान करनेवाला है। भगवान ऍम्पेरुमान् का प्रेम और प्रेम का स्मरण।

"वारा वरुवाय् वरुमेन् माया मूर्तियाम्
आरावमुदाय् अडियेन् आवि यगमे तित्तिप्पाय्
वण्णम् मरुळ्कॉळ् अणिमेग
वण्णा ! माय अम्माने !
ऍण्णम् पुगुन्दु तित्तिक्कुम्
अमुदे ! इमैयोर् अदिपतिये !"

इन पंक्तियों का सार होता है—आळ्वार को प्राप्त सुख साधारण नहीं था, अत्यंत श्रेष्ठ था। यह प्राण से संबंधित है, शरीर से नहीं। भगवान ऍम्पेरुमान् का स्मरण ताज़े पंचामृत के स्वाद का अनुभव प्रदान करनेवाला था। इस मधुर सुख को वे अपने छोटे-से मन में समाकर नहीं रख सके। तब मधुर सुख व प्रेम के आवेश में भगवान के स्तुति-गीत के रूप में निकलने लगे। कोई जन्मतः कवि सुन्दर दृश्य को देखकर उसका वर्णन करते हुए गाये बिना, कविता की रचना किये बिना नहीं रह सकता, वैसे ही भगवान की स्तुति गाये बिना नम्माळ्वार नहीं रह सके। अपने छोटे-से दिल में भगवान के अपार प्रेम को समाकर रखने में आळ्वार असमर्थ थे। अतएव भगवान की स्तुति में तन्मय होकर गाने लग जाते थे।

"कंडुकॉडु ऍन् कण्णिणै यारक्कळित्तु
पंडै विनैयायिन् पट्रोडरुत्तु—
त्तोंडर क्कमुदुण्ण चॉनमालैगळ् चॉन्नेन्
अंडत्तमरर् पॅरुमानडियेन्।"

अर्थात्–नम्माळ्वार ने भगवान एॅम्पेरुमान को ज्ञानचक्षुओं से देखा और सुख का अनुभव किया। "कंडुकॉडु एॅन् कण्णिणै यारक्कळित्तु" अर्थात् ज्ञानचक्षुओं से भगवान को देखकर आनन्दानुभव किया। ज्ञान-चक्षुओं से देखने पर जो भी आनन्द हुआ, उस आनन्दानुभूति में भगवान की स्तुति करने लगे। इस स्तुति या गीत को 'गीतमाला' कहते हैं। तिरुवाय्मोळि का एकेक पद एकेक माला है। एकेक शब्द एक पुष्पवत् है। उस स्तुति का अर्थ पुष्प की सुवासना है। उस स्तुति के श्रवण से प्राप्त होनेवाला जो आनन्द है, वह मधुर मधु है।

नम्माळ्वार ज्ञानचक्षुओं से भगवान को देख प्रसन्न हुए। प्रसन्नता में जो भी गीत निकले वे सब गीतमाला के रूप में परिणत हो गये। ज्ञान चक्षुओं से देखने का परिणाम 'गीतमाला' का निर्माण है। भगवान से प्रेम करना हमारा अपना कर्तव्य है। यदि बाधाएँ हों, तो अपने आप वे नष्ट हो जाएँगी। नहीं तो उन बाधाओं का नाश करना भगवान का कर्तव्य है। बाधाओं को प्रधान नहीं समझना चाहिए।

'गीतमाला' का श्रवण करनेवाले सब भक्तजनों को अमृतपान का आनन्द हुआ। सबने उन गीतों को स्वयं गाया, गाकर अपार आनन्द का अनुभव किया। आनन्दानुभव में सांसारिक चिंताओं को भूलने लगे। इस प्रकार आळ्वार की गीतमाला प्रेम व सुख प्रदान करनेवाली हो गयी। कवि चक्रवर्ती कंबर ने 'तिरुवाय्मोळि' को 'अमृत का सागर' कहा है। सचमुच तिरुवाय्मोळि अमृत का सागर ही है।

श्री नम्माळ्वार आत्मप्रशंसा करनेवाले नहीं थे। वे अपनी रचना को—'तॉण्डर्क्कमुदम्—अर्थात् भक्तों के लिए अमृत—ऐसा स्वयं नहीं कह सकते थे। वे कहते थे—'सब कुछ भगवान की आज्ञा से, भगवान की कृपा से घटते हैं। भगवान की आज्ञा से ही सारा सांसारिक व्यापार चलता है। 'भगवान की कृपा से ज्ञानचक्षुओं से वे भगवान के दर्शन कर सके। भगवान के दर्शन करने के कारण ही गीत निकले, गीतमाला का निर्माण हुआ' यही आळ्वार का विचार था। 'भगवान की कृपा से दर्शन, दर्शन

के कारण स्तुति, स्तुति ही गीत, गीत से गीतमाला, गीतमाला के गान से अमृतपान का आनन्द' इन सबके लिए भगवान की कृपा ही कारण है। उसमें आत्मप्रशंसा किंचित भी नहीं। सब कुछ भगवान की प्रशंसा, भगवान की स्तुति है। सब स्तुति या गीत भगवान की कृपा से ही गाये गये। श्री आळ्वार का एक और विचार था कि स्वयं भगवान उनके हृदय में स्थित होकर गाते हैं। यह भगवान की स्तुति के सिवा और कुछ नहीं है। तिरुवाय्मोळि के सातवें व नौवें पदों में आळ्वार ने इस विचार का समर्थन किया है। भगवान के प्रति सच्चा प्रेम रखनेवाला भक्त 'सब क्रियाएँ भगवान की आज्ञा से ही चलती हैं' ऐसा समझता है। आळ्वार ने भी सच्चे भगवद्भक्त व भगवतप्रेमी का पालन किया। उनका विचार यह भी था कि उन गीतों को गाते समय उनको जो सुख होता है, वही सुख इतर भक्तजनों को भी गाते समय होता है। 'अपना-सा अनुभव परायों को भी होता है' इस प्रकार समझना मानव का स्वाभाविक गुण है। यह महान गुण श्री नम्माळ्वार में भरा-पूरा था।

श्री आळ्वार ने अपने प्रेम के स्वरूप के संबंध में स्वयं बताया है। इच्छा क्या है? प्रेम तथा इच्छा में क्या अंतर है? अभीष्ट वस्तु के भोग करने पर भी वह अभिलाषापूर्ण न हो, तो वह इच्छा है। एक वस्तु का भोग करते-करते इच्छा की वृद्धि ही होती है, कम नहीं होती है। किसी कारण से उस वस्तु के भोग करने में कोई बाधा उपस्थित हो जाए, तो तब उस इच्छा की पूर्ति नहीं होती है। भोगने पर भी पूर्ण तृप्ति नहीं होती। जलती अग्नि में घृत के डालने से अग्नि और भी प्रज्वलित होती है, वैसे ही अमुक वस्तु का भोग करते-करते वह इच्छा अधिक ही होती है, तृप्ति भी नहीं होती, कमी भी नहीं होती। अतः इच्छा को अपने वश में कर लेना चाहिए। इसके संबंध में तिरुवळ्ळुवर ने भी बताया है—'आरा-वियर्कै अवा' अर्थात्, इच्छा की संतृप्ति नहीं होती, यह स्वाभाविक है। श्री आळ्वार की यह अतृप्त इच्छा भगवान के प्रति मुड़ गयी। अतएव उन्होंने स्वयं कहा है—'आराद कादर् कुरुगूर शडगोपन्' अर्थात् कुरुगूर के शडगोपन प्रेम-तृप्त होनेवाला नहीं है।

उनका भाव देखिये :

'कूवि क्कूवि नॅञ्जुरुगिक् कण्पनि शोर निन्राल्
'पावि नी' ऍन्रोन्रु शॉल्लाय्
पात्रियेन् काण वन्दे ।'

अर्थात्, भगवान का संबोधन करते-करते दिल पिघल गया और अश्रु के रूप में परिणत हो गया। उपर्युक्त पंक्तियों को और भी स्पष्ट किया जा सकता है। ज्ञानचक्षुओं से भगवान ऍम्पेरुमान् को देखने के पश्चात् चर्म-चक्षुओं से देखने की इच्छा हुई। पर, ऐसा नहीं हो सका। पुकार-पुकार-कर, पिघलते दिल से, आँखों में आँसू भरकर थक गये। उच्च स्वर से पुकारने पर भी, अश्रु विसर्जन करने पर भी, चर्म-चक्षुओं से भगवान के दर्शन नहीं कर सके। तब आळ्वार कहने लगे—

भगवान से प्रेम करने के कारण, बदले में भगवान से आळ्वार ने किस वस्तु की प्रतीक्षा की इसकी ओर भी थोड़ा ध्यान देंगे। बहुधा लोग दुःख से मुक्त होने के लिए ही भगवान का स्मरण करते हैं, स्तुति करते हैं, वन्दना करते हैं, वन्दना करते करते याचना भी करते हैं, प्रार्थना भी करते हैं। इन सबसे कोई फल न हो, तो भगवान का स्मरण कम ही नहीं होता, भगवान को भूल भी जाते हैं। दुःख दूर नहीं हुआ, तो भगवान के अस्तित्व तक को भूल जाते हैं। फल की प्रतीक्षा से ही सब भगवान का स्मरण, अर्चना, वन्दना करते है।

परंतु आळ्वार का प्रेम, उनकी याचना, उनकी प्रार्थना सबसे निराली थी। फल की प्रतीक्षा से आळ्वार ने भगवान ऍम्पेरुमान से प्रेम नहीं किया। स्वाभाविक रूप से ही प्रेम किया। जनन-मरण से मुक्त होकर मुक्ति की प्राप्ति की इच्छा रखते हुए भी उसी को प्रधान नहीं मानते थे, भगवान से निस्वार्थ अमिट प्रेम करना, उसका गुणगान करना, उसका गुणगान करते-करते सुखानन्द का अनुभव करना ही आळ्वार का लक्ष्य रहा और उनकी यह अंतिम इच्छा भी रही। स्वयं अपने पदों में आळ-

वार ने गाया है—"चाहे मुझे मोक्ष मिले, अथवा उससे भी कम स्वर्ग मिले, अथवा नरक ही सही, मैं किसी की चिंता नहीं करता। चाहे कुछ भी हो, मैं तो ऍम्पेरुमान भगवान से लगातार प्रेम करते-करते सुख मात्र प्राप्त करना चाहता हूँ। यह सुख कहीं से भी मिले—मोक्ष, स्वर्ग, नरक कुछ भी हो, मैं स्थान की चिंता नहीं करता, स्थान के ऊँच-नीच का अंतर नहीं देखता, पर यह अवश्य देखता हूँ कि भगवान का प्रेमसुख प्राप्त हो रहा है कि नहीं।"

श्री नम्माळवार भगवान के प्रेम-स्मरण मात्र से तृप्त नहीं होते, भगवान की सेवा करना भी चाहते थे। सेवा का कोई निश्चित रूप नहीं है। सब प्रकार की सेवा करना चाहते थे। किसी भी प्रकार की सेवा क्यों न हो, एक वार सेवा में लगने पर, पश्चात् उसे छोड़ना नहीं चाहते थे। सदैव भगवान की सेवा करने में लगे रहना चाहते थे। वे कहते थे—"ओऴिविल् कालमेल्लाम्' अनंतकाल अर्थात् सदाकाल', सेवा करते रहना। इस प्रकार वे सदैव गाते थे। अपनी इच्छा से वे भगवान की सेवा करना नहीं चाहते थे। भगवान की इच्छा व भगवान की प्रसन्नता के लिए भगवान की सेवा करना चाहते थे। उनका विचार था कि मेरी सेवा देखकर यदि भगवान ऍम्पेरुमान प्रसन्न हो जाएँ, तो उस प्रसन्नता को देखकर मुझे असीम आनन्द का अनुभव होगा। इस प्रकार का आनन्दानुभव करना ही मेरे लिए सुख की बात है।

भगवान ऍम्पेरुमान भक्तों के लिए सुलभ हैं, वे आसानी से प्रेमजाल में फँस जाते हैं। आळ्वार का विचार था कि भगवान मेरा स्मरण कर मुझपर कृपा न करें, तो चिंता नहीं, परंतु मेरा मन उनको भूलेगा नहीं। ऍम्पेरुमान के सिवा मुझे किसी और का स्मरण नहीं करना है। यही आळ्वार के सच्चे प्रेम, सच्ची प्रार्थना का स्वरूप है। इस प्रकार का रूप अन्यत्र मिलना दुर्लभ है।

आळ्वार की प्रार्थना का रूप और भी देख सकेंगे। वे भगवान से कहते हैं—"मैं प्रेम से पिघले दिल से तुम्हारे विभिन्न नामों से तुमको पुकारने लगा। परंतु, तुमने आकर मेरे मन की इच्छा की पूर्ति के लिए अपने

दर्शन तक नहीं दिये। फिर भी तुम्हारे कोमल चरण-कमलों को मेरे सिर के लिए तकिये के जैसे आधार मानता हूँ। तुम मुझपर कृपा करो या न करो, मैं तो तुम्हारे चरण-कमलों का स्मरण करना, वन्दना करना नहीं छोड़ूँगा। तुम चाहो तो भूल जाओ, मैं तो तुमको सर्वथा भूल नहीं सकूँगा।' इससे ज्ञात होता है कि आळ्वार का प्रेम निष्कपट व निःस्वार्थ है। यदि' भगवान प्रेम से स्वीकार किये बिना, घृणा से वार्तालाप करें, तो भी चिंता नहीं। उन घृणा भरी वार्ताओं को सुनकर भी आळ्वार सुख का अनुभव करना चाहते हैं।

बहुधा लोग अपनी अभिलाषा के अनुसार भगवान से भक्ति करते हैं और उस भक्ति के बदले कुछ प्रतीक्षा करते हैं। पर बुद्धिमान लोग अधर्म और अनीति से अपनी अभिलाषा की पूर्ति नहीं चाहते हैं। आळ्वार तो सबसे निराले थे, सबसे अनूठे थे। आळ्वार की प्रधान अभिलाषा भगवान ऍम्पेरुमान से अमिट प्रेम करना था। जनन-मरण से मुक्त होना, मुक्ति को प्राप्त करना आळ्वार के लिए प्रधान नहीं है। 'जनन-मरण से मुक्ति और मोक्ष प्राप्ति' भगवान ऍम्पेरुमान की कृपा के बिना साध्य नहीं हैं। यदि ये वस्तुएँ भगवान ऍम्पेरुमान के सिवा किसी और से मिल जाएँ तो भी आळ्वार इन्हें स्वीकार करने तैयार नहीं हैं। जो भी प्राप्त करना चाहते हैं, चाहे घृणा से हो या प्रेम से, भगवान ऍम्पेरुमान सम्मुख आकार बता दें कि 'तू पापी है; अतएव, तुझे दर्शन की संभावना नहीं है'। कम से कम अपनी अनिच्छा को मेरे सम्मुख आकर बता दें। तब मैं चिंता नहीं करता। तुमको देखना, तुम्हारे स्वर को सुनना, यही मेरी इच्छा है।"

"शिरप्पिल वीडु स्वर्गम् नरकम्
इरप्पिल ऍय्दुग ऍय्दर्क यानुम्
पिरप्पिल पल्पिर विप्पॅरुमानै
मरप्पोन् रिन्रि ऍन्रुम मगिळ्वेने।"

आळ्वार इस पद में कहते हैं कि 'भगवान्! तुम मुझे मोक्ष प्रदान करो, चाहे नरक भी प्रदान करो। जहाँ चाहे वहाँ मुझे रखो। मैं लेश-

मात्र भी चिंता नहीं करता। सदैव तुम्हारा स्मरण करते हुए संतोष का अनुभव करूँगा। यही मेरी इच्छा है।' भगवान की घृणाभरी बातों को भी आळ्वार सुनना चाहते हैं। "पापी तू, तुझे देखने मैं क्यों आऊँ ?" इस बात को भी आळ्वार स्वयं भगवान के मुँह से ही सुनना चाहते हैं। भगवान जैसा भी रखें, जहाँ भी रखें उनके प्रेम का स्मरण करते-करते रहना चाहते हैं। यही भगवान से आळ्वार की याचना है, प्रार्थना है। 'यही आळ्वार का भगवान के प्रति प्रेम का रूप है।' ऐसा आळ्वार के प्रेम को हम एक निश्चित रूप नहीं दे सकते।

आळ्वार की प्रार्थना का रूप :

भगवान के प्रति आळ्वार का प्रेम असीम था। भगवान के सिवा किसी और का स्मरण वे नहीं कर सकते थे। इस परिस्थिति में वे भगवान को भूल भी नहीं सकते थे। भगवान के प्रेमस्मरण से मन में अतीव आनन्द का अनुभव हो जाता था। वे भगवान को प्रेम-प्रपत्ति मात्र से प्राप्त करना चाहते हैं; किसी भी परिस्थिति में किसी और से नहीं। यही आळ्वार की प्रार्थना का विशेष स्वरूप है।

"अवनार् परिशिल् पॅरुदलन्रि,
पिर्‌रैप्पाडवुम् माट्टेन्,
अवरार् परिशु पॅरवुम् माट्टेन् ॥"

इस पद से ज्ञात हो जाता है कि आळ्वार भगवान ऍम्पेरुमान के सिवा किसी और का गुण-गान भी नहीं करते, किसी और से कुछ लेना भी नहीं चाहते। जो भी प्राप्त करना चाहते हैं कि भगवान ऍम्पेरुमान मात्र से सीधे प्राप्त करना चाहते हैं।

इससे मालूम होता है कि आळ्वार का प्रेम कितना गहरा था। अतएव, वे भगवान से सदा-सर्वदा प्रेम के सिवा और कुछ भी नहीं चाहते थे। वे तो भगवान ऍम्पेरुमान् के चरणदास थे। आळ्वार अपने को भगवान के सम्मुख बहुत तुच्छ मानते थे। उनकी महिमा के लिए भगवान

का बड़प्पन ही कारण है, ऐसा मानते थे, 'मेरे पास उनके भक्त होने की उनसे प्रेम करने की योग्यता तो नहीं है, फिर भी भगवान ने अपनी असीम कृपा और अनुकंपा से मुझे इस योग्य बनाया।' उनकी निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिये :—

"पॉरुळ् अल्लाद ऍन्नैप्पॉरुळाक्कि अडिमै कॉण्डाय्"—

अर्थात् मुझमें योग्यता के न होने पर भी, मुझमें योग्यता भरकर या मुझे योग्य बनाकर तुमने मुझे अपना प्रिय सेवक बना लिया।

सचमुच श्री नम्माळ्वार महान संत थे, भक्त थे, भगवान के सच्चे प्रेमी थे। ऐसे संत को पाकर तमिळ्नाडु मात्र नहीं, अपितु सारा भारतवर्ष गर्व का अनुभव करता है।

लेखक : **श्री राम सुब्रह्मण्यम्**

आण्डाळ

भक्ति की गरीयसी भावना मानव मात्र को प्राप्त एक विशिष्ट वर-दान है। समय, काल, संप्रदाय, मत-मतान्तर आदि जितने भी प्रकार के हों, किन्तु भक्ति-विह्वल हृदय के उद्गारों में एक ही प्रकार की व्याकुलता है, एक ही समान तड़प है। भक्ति-गद्गद् गीतों और भावनाओं के लिए सुविख्यात हर आष्वार का जीवन-वृत्त स्वयं ही काव्य है। उसमें स्वयं भगवान आप्लावित हुए, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

विष्णु की भक्ति में दत्तचित्त भक्त 'आष्वार' कहलाते हैं। प्रभु भगवान के लीलागान में ही वे नित निमज्जित रहनेवाले हैं। इस कारण वे 'आष्वार (निमज्जित रहनेवाले) कहलाये। निष्काम भावना से भक्ति करने पर, प्र ु के चरणों में अनन्य प्रीति रखने पर उनकी कृपा प्राप्त होगी, और उसके फलस्वरूप मुक्ति-प्राप्ति का विश्वास करनेवाले हैं ये आष्वार। आध्यात्मिक तथ्यों को, भगवद्-गीता में कथित उपदेश सार को अपनी अनुभूति-गर्भित वाणी में इन आष्वारों ने दिया है। वे सब चार हजार पदों में संकलित हैं। इन भक्तों के सिरमौरों ने वैष्णव भक्ति की जो अजस्र धारा बहायी, उसने सारे दक्षिण को ही नहीं अपितु उत्तर भारत को भी लह-लहाने दिया और वहाँ के भक्त मणियों को भी अभिभूत कर दिया।

ये आषवार बारह हैं वे हैं—पॉय्गै आषवार, भूदत्ताष्वार, पेयाष्-वार, तिरुमषिशै आषवार, नम्माषवार, मधुर कवि आषवार, कुल शेखर आषवार, पॅरियाष्वार (विष्णु चित्त), आंडाळ्, तोंडडिप्पोडि आष्वार, तिरुप्पाणाष्वार तथा तिरुमंगै आषवार।

इन बारहों में एक स्त्री है। वही आण्डाळ् है। अन्य आषवार भक्त भगवान को नायक मानकर अपने को नायिका होने की कल्पना में ही उनसे नाता जोड़कर गा सकते थे। किन्तु नारी होने के कारण आण्डाळ् अपने हृदय में भगवान विष्णु को ही अपने पति के रूप में वरण करने की तीव्र भावना लिये भू पर आयी।

पेरियाष्वार के नाम से प्रसिद्ध विष्णुचित्त के यहाँ पलने के कारण आण्डाळ् का नाम हमेशा विष्णु-चित के साथ लिया जाता है।

तमिल साहित्य की उपजाऊ भूमि पाण्डिय देश में श्रीविल्लिप्पुत्तूर एक पवित्र तीर्थस्थान है। वहाँ मुकुन्दभट्ट और पद्मवल्ली एक ब्राह्मण दम्पती थे। उनके पुत्र थे विष्णुचित्त। विष्णुचित ने आजीवन पुष्पमाला गूंथकर भगवान को सजाने का पुनीत कार्य अपनाया। अपने छुटपन मे ही उन्हें कृष्णावतार की एक घटना ने बहुत प्रभावित कर दिया। कंस के घर पर फूलों की माला बनानेवाले एक भक्त के पास स्वयं कृष्णजी जाते और उनसे माला माँगकर पहना करते थे। कृष्णजी की अगणित लीलाओं के इस एक अंश पर मुग्ध विष्णुचित्त ने अपने घर के पास एक उपवन लगाया। प्रतिदिन पौधों को जल देते, फूल चुनकर और उनकी माला बनाकर भग-वान को पहनाया करते थे। प्रतिदिन सुरभित पुष्पों की माला बनाने के उद्देश्य से उन्होंने अपने ही गृह के सामने वह उपवन लगाया था।

एक दिन विष्णुचित्त तुलसी की पौध को पानी सींचने के हेतु उपवन में पहुँचे, तो वहाँ एक सुन्दर शिशु को पाया। उसमें दिव्य आभा छलक रही थी। सौभाग्यवश प्राप्त उस शिशु को देखकर पहले विष्णुचित्त ने सोचा कि यह स्वर्ण प्रतिमा तो नहीं है! शिशु का स्वर सुनाई दिया, तो उन्हें मालूम हुआ कि वह स्वर्ण प्रतिमा नहीं है, एक मानवी कन्या है। विष्णुचित्त ने उसे बड़े वात्सल्य से उठाकर अपने हृदय से लगा लिया।

उसका सुंदर मुख चूमा। शिशु को देखकर विष्णुचित्त विस्मित हुए- इस शिशु का सौन्दर्य असीम है। लगता है कि क्षीराब्धि से प्रगट श्री देवी है। यह मुझे तुलसी की पौध के नीचे से प्राप्त हुई है। अतः यह अयोनिजा, है, दैवी शिशु है। मिथिलेश जनक ने यज्ञवेदी बनाने के लिए भूमि को जोता तो उस समय उन्हें सीता प्राप्त हुई। उसी प्रकार सन्तान हीनता की मेरी अपार वेदना को दूर करने के लिए, प्रभु भगवान ने मुझपर कृपा बरसायी है। यों सोचते हुए विष्णुचित्त ने अपनी पत्नी को बुलाया और शिशु की प्राप्ति का सारा विवरण कह सुनाया। देवी भी बिना प्रयास के प्राप्त उस पुत्री को गोद में लेकर प्रमुदित हुई। विष्णुचित्त ने पुत्री को भगवान की मूर्ति के सम्मुख रखा और प्रणाम किया। तब उन्हें अचानक ये वाक्य सुनाई पडे—'विष्णचित्त यह दैवी बालिका है। ज्ञानवर्धन के लिए यह इस भू पर अवतरित हुई है। इस पुत्री का कोदै (गोदा) का नामकरण करके पालो। लोक-कल्याण के निमित्त अवतरित इस बालिका की कीर्ति से तुम आनन्दनिमग्न हो जाओगे।'

कोदै का अर्थ फूलों की माला है। प्रभु को गीतमालिका पहनाने के लिए इस अवनि पर आयी थी वह बालिका। अतः कोदै सार्थकनामा हो गयी।

विष्णु की भक्ति में, प्रेमानुरागा भक्ति में, वह प्रभु की भी शासिका (आंडाळ्) बन गयी। इस कारण से वह आंडाळ् के नाम से भी विख्यात हो गयी।

विष्णुचित्त प्रतिदिन फूलों की माला बनाते हुए गाया करते—

अन्बे मलराग आट्वमे नाराग
इन्बुरुगु चिन्तै इड्डमणमाय नन्बुरुगि
ज्ञानप्पामालै सूट्टिनेन् नारणर्कु
ज्ञानत्तमिष नविन्र नान।

प्रेम मेरा सुमन है। उत्साह धागा है।
प्रभु में तल्लीन हृदय उसमें मुखरित सौरभ है।
शरीर के कण कण को पिघलाकर मैंने
प्रभु को ज्ञानसुमनों की मालिका (ज्ञानदायिनी
तमिल में) पहनायीं।

शैशव से ही पिताजी के मुंह से ऐसे ऐसे गीतों को सुन सुनकर आण्डाळ् विमुग्ध हो जाती थी। अबोध बालिका आण्डाळ् अपने पिताजी से प्रश्न करती—"पिताजी ! भगवान कहाँ हैं ? उन्हें हम कैसे पा सकेंगे ?" तब पिताजी बालिका को यह कहकर समझा देते—"मेरी प्यारी बेटी ! इस जगत को बनानेवाला, पालनेवाला और मिटानेवाला भगवान ही है। वह दूध में मक्खन की तरह व्याप्त रहता है। उसका गुण गानेवाले कभी दुख नहीं पाते। विमाता की निर्ममता से दुखी ध्रुव नारायण का नाम जपते-जपते उनके दर्शन पा गया। अबोध बालक प्रह्लाद की हठी भक्ति से प्रसन्न होकर भगवान उसके सामने प्रगट हो गये। मगर की पकड़ से व्याकुल गजेन्द्र ने प्रभु का नाम पुकारा तो वह भागा भागा आया और उसको मगर के ग्रास से मुक्त किया। हम सब का उद्धार करने वह मनुष्य बनकर भू पर भी आया है।"

पिताजी की बातें सुनकर गोदा के मन में शंका उत्पन्न हुई। उसने पूछा—"पिताजी, प्रेम और भक्ति करनेवालों पर ही वे अपनी कृपा बर-सायेंगे, या अन्य लोगों पर भी ?"

विष्णुचित्त ने जवाब दिया—"क्यों नहीं ? निन्दक को भी सुख देने-वाला वह परम दयालु है। अपना उपहास करनेवाले हिरण्य को भी, अपनी देवी सीता को चुराकर कारावास में रखनेवाले रावण को भी स्वर्ग दिया उस प्रभु ने।"

'पिताजी, इस भू पर किन किन रूपों में भगवान आये हैं ?'— आण्डाळ ने पूछा।

पिताजी ने कहा–'मानव बनकर, पशु का रूप लेकर, मछली और कछुआ भी बनकर इस जग में वह आया। यह सब किसलिए उसने किया? अवनि के जनों का कष्ट दूर करने के लिए ही तो।'

भगवान की भक्त-वत्सलता से आण्डाळ् अभिभूत हो गयी। अपने पिताजी से प्रतिदिन प्रभु भगवान की लीलाओं की कथाएँ सुनती। उनको सुनकर उसकी यह धारगा बद्धमूल हो गयी कि भगवान सच्चे प्रेम से ही उपलब्ध हो सकते हैं। उसने अपनी इस शैशवावस्था में ही निश्चय कर लिया कि मैं प्रभु को गीत गा-गाकर पा लूंगी।

सबको मुग्ध करनेवाले प्रभु के सौन्दर्य और दिव्य गुण-कथन सुनती हुई दिन प्रतिदिन आंडाळ् अधिक कल्पनाशील होती गयी। वह कल्पना करती, अपने तीन कदमों से त्रिभुवन को नापनेवाले उस प्रभु का सौन्दर्य कितना मनोरम होगा। उनके सौन्दर्य-सिंधु में मेरा हृदय निमग्न हो गया। उनके बारे में सोचूं, तो मन मधुरिम लगता है। उनकी बातें जिह्वा को मीठीं लगती हैं। उनके अनुरूप सौन्दर्यमयी मैं कैसे बन पाऊँ?' –'यों कल्पना करती हुई आण्डाळ् यहाँ तक सोचने लगी कि प्रभु भगवान के लिए पिताजी ने फूलों की माला गूंथ रखी है, उसे मैं पहनूं तो मैं उनकी हो जाऊँगी।'

कल्पना के सत्य होने में विलंब नहीं हुआ। टोकरी में से माला को निकाला और गले में पहनकर आइने के सामने आण्डाळ् जा खड़ी हुई। अपने सौन्दर्य पर आप ही विस्मित हो आण्डाळ् बोल उठी—'वाह! कैसा सौन्दर्य है! मैं प्रभु की अनुरूपिणी हो गयी हूँ। मेरे प्रियतम! तुम कब मुझे अपनाओगे?'

उस दिन हमेशा की तरह नहीं हुआ। कुछ शीघ्र ही विष्णुचित्त घर लौटे। उन्होंने देखा कि पुत्री आण्डाळ् प्रभु की माला पहनी हुई आइने के सम्मुख इठलाती खडी है। वे क्रुद्ध हो उठे। 'कोदै! यह क्या अनर्थ कर डाला तुमने?' कहकर उस दिन भगवान को माला पहनाये बिना कुम्हलाये मन के साथ रह गये।

उस रात को भगवान विष्णुचित्त के स्वप्न में आये और उनसे पूछा–"मेरे भक्त ! आज तुमने मुझे माला क्यों नहीं पहनायी ?" विष्णुचित्त बोले–"प्रभो ! अपराध क्षम्य हो। अबोध बालिका आण्डाळ् ने उसे भूल से पहन लिया। मानवी की पहनी हुई माला से कैसे मैं प्रभु को सजा पाता ? इसलिए पहनाने से रह गया।"

भगवान ने कहा–"विष्णुचित्त ! गोदा की महिमा से तुम अनभिज्ञ हो। वह मानवी नहीं है। वह भू-देवी का अवतार है। जगत का उद्धार कर मुझको सुख देने के लिए प्रकट हुई है। वह आण्डाळ् है, मेरी शासिका। उसकी पहनी हुई माला ही मेरे लिए बहुत प्रिय है। आज से गोदा की पहनी हुई माला ही मुझको पहनायी जाय। उसके पहनने से वह माला और अधिक सौरभ पाती है।"

दूसरे दिन प्रातःकाल आण्डाळ् ने देखा कि पिताजी का चेहरा अब भी उदास है। उसने अपने अपराध के लिए उनसे क्षमा माँगी। विष्णु-चित्त बोले—"मेरी प्राणप्रिय पुत्री कोदै ! भूल तुम से नहीं हुई है। मुझी से हुई है। तुम्हारी गरिमा से मैं इतने दिन अवगत जो नहीं रहा, इसी का मुझे दुख है। प्रभु ने मेरे स्वप्न में आकर कहा कि तुम्हारी पहनी हुई माला ही उन्हें प्रिय है। उनकी कृपा की तुम्हीं पात्री हो बेटी !"

पिताजी की बातें सुनकर आण्डाळ् अत्यन्त प्रसन्न हुई और तब से वह अपने को प्रभु की ही भोग्या मानती हुई पल रही थी।

पिता अपनी पुत्री के बढ़ते हुए शारीरिक और आत्मिक सौन्दर्य से अभिमान-मस्त भी हुए और साथ ही चिन्तित भी। लता के योग्य तरु मिले, तभी तो वह फूलेगी-फलेगी।

एक दिन पिताजी की चिंता का कारण पुत्री को ज्ञात हो गया। उसने कहा—"इसकी चिन्ता मत कीजिए पिताजी, मैं किसी भी मानव से विवाह नहीं करूँगी।"

विष्णुचित्त भ्रमीभूत हो गये। उन्होंने पूछा—"तब क्या तुम कन्या ही बन कर रह जाओगी ?"

गोदा ने उत्तर दिया--विवाह करूँगी पिताजी ! किन्तु मानव से नहीं, परंधाम के उस प्रभु से ही, श्रिय:पति परमात्मा से। इस गोदा को अपने हृदय से लगाने का केवल वही वधिकारी है।"

विष्णु चित्त को कुछ नहीं सूझा। उन्होंने पूछा--"यह क्या, अबोध शिशु की भाँति बातें करती हो ! जिस प्रभु को देवगण और मुनि वृन्द नहीं समझ सके, चारों वेदों की पहुँच के बाहर है वह। उससे कैसे तुम परिणय करोगी पुत्री ? यह क्या नादानी है तुम्हारी, दृढ़ता से आण्डाल ने कहा--"क्या करें, पिताजी मेरा हृदय उनको अर्पित हो चुका है। अब मैं उनकी वस्तु हूँ। किसी मानव के हाथ मुझे सौंपने की यदि आप इच्छा करेंगे, तो मैं जीवित नहीं रहूँगी।"

विष्णु चित्त आण्डाल के राजहठ से आश्चर्यान्वित हो गये। उन्होंने सोचा--कौन कह सकता है, ऐसी अनन्य भक्ति के लिए ही तो भगवान सुलभ हो सकता है !

आण्डाल ने विष्णु चित्त से पूछा--"पिताजी, आपने कहा--प्रभु के लीलाधाम एक सौ आठ हैं। उनमें से सर्व श्रेष्ठ कौन-सा है, बताइए तो सही।"

'बेटी, यह कैसा प्रश्न है ? मिश्री का कौन-सा अंश अधिक मधुर रहेगा ? तुम्हीं कहो तो। फिर भी भक्त जन श्रीरंगम के रंगनाथ का ही स्तवन अधिक किया करते हैं।"

पिताजी का यह वचन सुनते ही आण्डाल आत्म विस्मृत हो गयी। श्रीरंगम के रंगनाथ को अपना प्रियतम मान कर उन्हीं के विरह में तड़प-तड़प कर गा उठी।

कल्लूरूम पैंतुषाय मालैयानै
कनविडत्तिल् यान् काण्बन कंडपोदु
पुल्लूरुम् कळ्वा नी पोगेल् एन्बन
एन्रालुम् इदु नमक्कोट पुलवि दाने !

(श्रीरंगम के उस प्रभु को, तुलसीमाला पहननेवाले उस प्रियतम को मैं स्वप्न में पाऊँगी। तब उससे कहूँगी कि मेरे मन के चोर! तुम मुझे छोड़ कर मत जाओ!)

प्रभु के श्रीमुख से लगे शंख से वह पूछती है—"हे शंख, तुम धन्य हो! कहो तो सही कि मेरे प्रियतम के श्रीमुख का सौरभ कैसा है, कर्पूर का-सा है अथवा कमल के समान? उनका मधुर मुख कितना मीठा है, कहो तो"—

> (कर्प्पूरम नारुमो कमलप्पू नारुमो
> तिरुप्पवळच्चॅव्वाय्तान् तित्ति त्तिरुक्कुमो
> मरुप्पॉशित्त माधवन्रन् वाय्च्चुवैयुम् नाट्रमुम्
> विरुप्पुट्रु क्केट्किन्रेन् शॉल्लाषि वॅण्शंगे!)

आण्डाल इस प्रकार श्रीरंगनाथ प्रभु के सुमिरन में ही अश्रु बहाती, स्तुति और उलाहना के गीत गाती दिन बिता रही थी।

भगवान को पाना ही अपने जीवन की सार्थकता मानती हुई आण्डाल ने गोपियों के मार्ग का अनुसरण किया। गोपियाँ श्रीकृष्ण को पाने के लिए माघ के मास में व्रत निभाती थीं। प्रातःकाल, ठंड की भी परवाह किये बिना नदी में स्नान कर भगवान की पूजा-आराधना किया करती थीं। तीस दिनों तक वे पूर्ण योगिन का सा संयम रखती हुई श्रीकृष्ण के लीलागान में अपना समय व्यतीत करती थीं। इस प्रकार किये जानेवाले कन्याव्रत को तमिल में 'पावै नोन्बु' कहते हैं। आण्डाल के रचित 'तिरुप्पावै' में इन्हीं तीस दिनों में गोपियों की व्रतोपासना का विवरण मिलता है। श्रीविल्लिप्पुत्तूर के प्रभु को कृष्ण कन्हैया और अपने को गोपियाँ मान कर आण्डाल एवं उसकी सखियाँ प्रात: काल सबको यों जगाती हुई, उद्बोधित करती हुई निकल रही हैं—

> 'सखियो! मार्गशीर्ष का ज्ञानवर्धक सुदिन है।
> निकलो, हम सब स्नान करने चलें।'

(मार्गषि तिंगल मदि निरैन्द नन्नालाल्
नीराडप्पोदुवीर् पोदुमिनो नेरिषैयीर् !)

जगाने पर भी अलसायी हुई कोई किशोरी उठती नहीं, आण्डाल पूछती हैं—"माताजी ! आपकी बेटी गूंगी है या बहरी, अथवा चिर निद्रा में लीन हो गयी है !'

(मामीर् ! अवळै एँषुप्पीरो उन मगळ्सान्
ऊमैयो अन्रिच्चेंविडो अनन्तलो
एँमप्पेरुन्तुयिल् मंदिरप्पट्टालो !)

और एक गृह की कन्या तो कुंभ कर्ण को भी अपनी निद्रा में मात कर देती है। तब आण्डाल कहती है—क्या उस कुम्भकर्णने जाते-जाते अपनी नींद तुम्हें दे दी ?

(पण्डोरुनाळ्
कूट्रत्तिन् वाय् बीषन्द कुंभकरणनुम्
तोट्रुम उनक्के पॅरून्तुयिल ताम् तन्दानो ?)

इस प्रकार अपनी सखियों को जगाती हुई अपने मन भावना का गुणगान करती हुई झण्ड-झुण्ड में लड़कियाँ नन्द के महल में जा पहुँचती हैं। वहाँ कृष्ण जी से उनके कृपा की याचना करती हैं। अपनी अचूक व्रतोपासना के कारण,देश की समृद्धि होने का भी उन्हें विश्वास है। कारण, पावन हृदय लेकर वे फलों से प्रभु की अर्चना करती हैं, उनका गुणगान करती हैं, मन में उन्हीं की याद में रम रही हैं।

इस प्रेमानुरागा भक्ति से स्वयं भगवान द्रवीभूत हो जाते हैं। कारण, वे सरस हृदय भक्तों के लिए सुलभ हैं। (पत्तुडै अडियवर्क्केळियवन्). "मधुरनाद-सौन्दर्य, भावप्रवणता और प्रेम-विह्वलता से पूरित 'तिरुप्पावै' के अतिरिक्त प्रभु से उनकी कृपा को छीनने के लिए उनको उलाहना देते हुए, आण्डाळ् ने १४३ पद लिखे हैं। इन पदों को 'नाच्चियार् तिरुमोषि' कहा जाता है। प्रियतम भगवान के विरह से व्याकुल भक्तिन की चित्त-वृत्तियों का इससे मधुर एवं सजीव चित्रण अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। विरह-

ताप को दूर करने के लिए भक्तिन के प्रयास और तड़प इन गीतों के वर्ण-वर्ण में व्याप्त हैं।

ऐसी भक्ति की तड़प कभी ठुकरायी नहीं जा सकती। इधर अर्ध-चेतनावस्था में पड़ी आण्डाळ् ने एक दिन स्वप्न में देखा कि प्रभु भगवान दूल्हे की पूरी सजावट के साथ आते हैं और हाथ पकड़कर आण्डाळ् को स्वीकार करते हैं। हजार हाथी जुलूस में निकलते हैं, पूर्णकुंभ लेकर भगवान का स्वागत किया जाता है। नगरों में सर्वत्र बन्दनवारों की सजावट है। अग्नि की परिक्रमा करती हुई, प्रभु का करकमल स्पर्श लेकर पुलक भरती है आण्डाळ्। इस स्वप्न की अनुभूति को वह अपनी सखी से कहने लगी। उसी समय विष्णुचित्त के स्वप्न में प्रभु ने प्रकट होकर कहा —तुम अपनी पुत्री को लेकर श्रीरंगम पहुँचो। मैं उसे अपना रहा हूँ।

श्रीरंगम में पांण्डिय नरेश को भी भगवान ने आज्ञा दे दी कि नगर को सजाओ, मैं आण्डाळ् से परिणीत होनेवाला हूँ।

सारा नगर शोभा मंडित हुआ। इधर आण्डाळ् को वधू की पूरी सजावट के साथ विष्णुचित्त श्रीरंगम ले गये। आण्डाळ् अपने स्वप्न को सत्य होते पाकर आनंद में आत्म-विस्मृत हो गयीं। पालकी पर आण्डाळ् चढ़ गयीं। और नगर में उनका बड़ी धूम-धाम से स्वागत होने लगा। रंगनाथ के मंदिर में पहुँचकर आण्डाळ् पालकी से उतरीं। सीधे भगवान की मूर्ति के पास पहुँचीं। वहाँ पहुँचते ही ज्योतिर्मयी बनकर भगवान रंगनाथ के अन्दर विलीन हो गयीं। प्रभु ने तो आण्डाळ् को स्वीकार कर लिया, किन्तु पिता को अपनी पुत्री का वियोग असह्य हो गया। वे अपने प्रभु से वेदना के साथ कहने लगे—एकमात्र पुत्री थी मेरी, जिसे मैंने लक्ष्मी की तरह पाला था, इसे भी कमलनयन प्रभु ने छीन लिया। मैं क्या करूँ ?—

(ऑरु मगळ् तन्नैयुडैयेन्
उलगम् निरैन्द पुगषाल्

तिरुमगळ् पोल वळर्त्तेन्
शेंकण् माल्दान् कॉण्डु पोनान् !)

आण्डाळ् की इस प्रेमानुरागा भक्ति ने उसे प्रभु भगवान का सायुज्य दिला दिया। आज भी तमिलनाडु में माघ के महीने में आण्डाळ् के 'तिरुप्पावै' के तीसों पद गाये जाते हैं। वैष्णव भक्ति साहित्य में अवगाहन करके उसकी पूर्ण महिमा से अभिज्ञ विद्वान उन पदों की सूक्ष्म से सूक्ष्म व्याख्या करते हैं जिसका श्रवण - लाभ असंख्य रसलोलुप नर—नारियाँ करते हैं।

आज भी विष्णु मन्दिरों में आण्डाळ् का विवाहोत्सव बड़ी धूम-धाम से मनाया जाता है। प्रभु भगवान जब कभी जुलूस में निकलते हैं, तब विष्णुचित्त और आण्डाळ् के पद गाये जाते हैं, जो प्रभु के लिए बड़े स्पृहणीय माने जाते हैं।

आण्डाळ् की यह तन्मयासक्ति को देखते हुए हमें अनायास उत्तर की भक्तिन मीरा का स्मरण हो आता है, जिसने तल्लीन होकर गाया था।

मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोई
जा के सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई।

दक्षिण की आण्डाळ् और सुदूर राजस्थान वासित भक्ति की मूर्त निर्झरिणी मीरा दोनों के पदों का माधुर्य असाधारण साम्य रखता है। दोनों के हृदय की तड़प में, भक्ति-विह्वलता में और राजहठ में विस्मयकारी साम्य पाकर महाकवि भारती के ये ही उद्गार हमें स्मरण हो जाते हैं—

माँ भारती अठारह भाषाओं वाली है
किन्तु उसकी चिन्तनधारा एक ही है।
(सेप्पुम्र मॉषि पदिनॅट्टुडॅयाळ् ऍनिर्
चिन्तनै ऑन्रुडैयाळ्।)

लेखिका : **श्रीमती जयरामन**, एम. ए.

3)

संत माणिक्कवाचकर-

ईसा पूर्व कई वर्ष पहले तमिल साहित्य उन्नत दशा में था। बौद्धधर्म के प्रभाव के कारण ईसा बाद तीन सौ चार वर्ष तक तमिल साहित्य पीछे रह गया। पांडिय और पल्लव राजाओं के काल में उनके प्रयत्न और प्रोत्साहन के कारण फिर तमिल साहित्य ख्याति प्राप्त करने लगा। तमिल साहित्य की इस श्रीवृद्धि के कारण केवल राजा लोग ही नहीं रहे, परन्तु उनके समय के शैव और वैष्णव संत भी थे।

शैव संत कुल 63 माने जाते हैं। इनमें चार प्रमुख और प्रसिद्ध माने जाते हैं। उनमें एक हैं, श्री माणिक्कवाचकर। इनका जन्म-काल विवादास्पद है। कोई इन्हें तीसरी शताब्दी के मानते हैं, तो कोई नौवीं शताब्दी के। इस विषय में विज्ञ लोग एकमत नहीं हैं। कुछ भी हो, श्री माणिक्कवाचकर का जन्म दक्षिण की प्रसिद्ध नगरी मदुरै की पूर्व दिशा में 12 मील की दूर पर वादवूर नामक स्थान पर एक साधारण ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इनके माता-पिता ने बहुत दिन तक पुत्र न होने से भगवान की प्रार्थना, व्रतादि करके इस पुत्र रत्न को पाया। इनके जन्म-स्थान वादवूर में एक शिवमंदिर था। उस मंदिर के देवता का नाम वादपुरीश्वर था। माता-

पिता अपने पुत्र को उसी भगवान के नाम से पुकारने लगे। इसलिए उनका नाम वादवूर्र अर्थात् वादवूर का निवासी हो गया।

पिता ने अपने कुल-धर्म के अनुसार उपयुक्त समय पर पुत्र का उपनमन आदि संस्कार कराये और अच्छी शिक्षा देने का भी प्रबंध कराया। अपनी मातृ-भाषा तमिल के साथ वादवूरर ने संस्कृत भी सीखी। संस्कृत के द्वारा उन्होंने वेद, वेदांग, आगम, पुराण आदि का भी गंभीर अध्ययन किया। बचपन से ही इनका मन भगवत्-भक्ति की ओर लीन था। ज्यों-ज्यों वे धार्मिक ग्रंथों को पढ़ते गये, त्यों-त्यों उनका मन भक्ति की ओर और तीव्रता से मुडता गया। इस प्रकार श्री वादवूरर लडकपन में ही सभी विद्याओं में निपुण बन गये। वे देखने में सुन्दर थे। उनका व्यक्तित्व आकर्षक था। उनकी वाक्पटुता और गंभीर ज्ञान ने सबको मोहित कर लिया।

उन दिनों मदुरै में, जो पांडिय राजाओं की राजधानी थी, अरिमर्दन नामक पांडिय राजा राज करते थे। वे बड़े शिवभक्त थे। वे बडे दानी और कुशल शासक भी थे। वे इतने पराक्रमी थे कि चेर और चोल राज्य भी उन दिनों उनके अधीन थे। उन्होंने कई शिवमंदिरों को नवीकृत किया था और मंदिरों को यथेष्ट निधि देकर सहायता भी पहुँचायी थी। अरिमर्दन पांडियन् ने जब वादवूरर का व्यक्तित्व, विद्वत्ता और शिवभक्ति के बारे में सुना, तो उन्होंने वादवूरर को अपने पास बुला भेजा। उन्हें देखकर राजा बहुत ही प्रभावित हुए और उन्हें अपना मंत्री बनाना चाहा। जब वादवूरर से राजा ने मंत्रिपद स्वीकार करने की प्रार्थना की, तो उन्होंने उसे सहर्ष स्वीकार किया।

वादवूरर बडी कुशलता से राज कार्य चलाते रहे। राजा भी उनसे बहुत प्रसन्न थे। आयु के साथ-साथ वादवूरर की ईश्वरभक्ति भी तीव्र होती रही। यद्यपि वे मंत्रीं का कार्य करते रहे, फिर भी उन्हें इस कार्य में पूर्ण संतोष नहीं मिला। उनका मन किसी और ही वस्तु की खोज कर रहा था। उनका मन एक अच्छे मार्गदर्शक गुरु की तलाश में था।

इधर पांडिय राजा वादवूरर से प्रसन्न होकर उन्हें "तेन्नवन् ब्रह्मरायन्" की उपाधि से विभूषित किया और धन शिब्रिका, छत्र, चामर आदि देकर सम्मानित भी किया। लेकिन वादवूरर का मन इन ऐहिक सुख-साधनों की ओर नहीं गया। वे हमेशा भगवान शिव का, मन ही मन गुण-गान करते रहे और उनके बारे में पूर्ण जानकारी प्राप्त करने के लिए योग्य गुरु की खोज में थे।

एक बार पांडिय राजा को अच्छी नस्ल के घोड़ों की आवश्यकता पडी। उन्होंने सुना था कि पूर्वी समुद्रतट पर जावा (शावक), कंबोज और अरब आदि देशों से अच्छे घोडे बिक्री के लिए आये हैं। उन्होंने वादवूरर को बडी धनराशि देकर घोडे खरीद लाने के लिए भेजा। उनकी सहायता के लिए उनके साथ कई सहायकों और नौकर-चाकरों को भी भेजा। उनके साथ घोडों के अच्छे-अच्छे पारखी भी गये। मार्ग तो बहुत ही दुर्गम था। सब लोग बडी कठिनाई से मार्ग तय करते हुए तिरूपेरुंदुरै नामक स्थान पर पहुँचे। तिरूपेरुंदुरै को आज-कल आवुडैयार कोविल कहते हैं। इस स्थान को आदिकैलास भी कहते हैं।

इस स्थान में पहुँचते ही वादवूरर ने एक उपवन को देखा। वहाँ ईश्वर का नाम भजन सुनाई पड़ रहा था। उसे सुनकर वादवूरर अनायास ही उस ओर आकृष्ट हुए और उस उपवन के भीतर घुसे। उन्होंने वहाँ देखा कि उपवन के बीच में एक कुन्द वृक्ष के नीचे एक तेजोमय साधु बैठकर अपने शिष्यों को उपदेश दे रहे थे। वादवूरर को ऐसा अनुभव हुआ कि वे कई दिनों से जिस गुरु की खोज में थे, वे मानों आज उनको मिल गये हों। वे प्रेम और भक्ति से पुलकित हो गये। उनके नेत्रों से अश्रुधारा बहने लगी। हाथ जोडते हुए वे इस प्रकार उस साधु की ओर दौडे मानों बहुत दिन का बिछुडा हुआ बछडा अपनी माता गाय के पास दौड रहा हो। वे उस अद्‌भुत साधु के चरणों पर गिरकर प्रार्थना करने लगे—'भगवन्' मुझे अपनाइये।' उस साधु महात्मा ने वादवूरर को उठाया और अपने स्पर्श एवं कटाक्ष से उन्हें कृतार्थ किया। उन्होंने वादवूरर को शिव-

ज्ञान- वोध का ज्ञान कराया और दीक्षा दी। ऐसे भक्त शिष्य को पाकर साधु भी प्रसन्न हुए और ऐसे गुरु को पाकर वादवूरर भी प्रसन्न हुए।

साधु महात्मा की संगति में रहने से वादवूरर की भक्ति और पक्की हुई और वे शिवजी की महिमा गाने लगे। इनके भक्ति सने गीतों को सुनकर स्वयं वे साधु बहुत प्रसन्न हुए। वादवूरर के गीतों का प्रत्येक शब्द माणिक के बराबर लगने के कारण साधु-महात्मा उनको तब से माणिक्कवाचकन् (माणिक जैसे वचन बोलने वाले) कहने लगे। कहते हैं कि भगवान शिव स्वयं साधुवेष धारण कर अपने गणों के साथ, जो शिष्यों के रूप में थे, वादवूरर को उपदेश देने वहाँ आये थे।

साधु की संगति में रहते-रहते माणिक्कवाचकर अपना काम भूल गये। वे घोडा खरीदने जो धन लाये थे उसे साधु की भेंट कर दी और कहा कि ईश्वर का दिया हुआ यह धन ईश्वर-भक्तों के काम आना चाहिए। साधु ने माणिक्कवाचकर का दिया धन उन्हीं को लौटा दिया और कहा कि इस धन को स्थानीय शिवमंदिर की मरम्मत के लिए खर्च करो। वादवूरर ने ऐसा ही किया।

उधर बहुत दिनों से वादवूरर की खबर न मिलने से पांडिय राजा बहुत चिंतित हुए और नित्य घोड़ों की राह देखते-देखते राजा बहुत निराश हो गये थे। उन्हें माणिक्कवाचकर पर सन्देह भी होने लगा। माणिक्कवाचकर के साथ जो पारखी और अन्य राजकर्मचारी आये थे, वे माणिक्कवाचकर के इस विचित्र स्वभाव को समझ नहीं सके। उनको यह भी भय हो गया कि कहीं राजा हमसे क्रुद्ध होकर हमें दण्ड दें तो क्या करें? इसलिए यह सोचकर कि राजा के दण्ड देने से पहले हमें राजा को माणिक्कवाचकर की खबर देनी चाहिये, वे मदुरा लौट आये। राजा को अपने कर्मचारियों द्वारा ज्ञात हुआ कि माणिक्कवाचकर घोड़े न खरीदकर उस पैसे से मंदिर बनवा रहे हैं। वे यह सुनकर आगबबूला हो गये। उन्होंने एक कर्मचारी को भेजकर माणिक्कवाचकर को बुलवाया। जब राजकर्मचारी ने वादवूरर को राजा की आज्ञा सुनायी, तभी माणिक्कवा-

चकर को अपनी भूल मालूम हुई। वे साधु से पूछने लगे कि अब मैं क्या करूँ! साधु ने कहा—घबराओ मत। राजा से जाकर कह दो कि श्रावण मास के मूल नक्षत्र के दिन आपको घोडे मिल जाएँगे। हम स्वयं घोड़े लेकर आ पहुँचेंगे। अब माणिक्कवाचकर निश्चित होकर मदुरै लौटे। राजा भी कुछ ठंडे पड़ गये और घोड़े के आगमन की प्रतीक्षा करने लगे।

जब निश्चित दिन के दो दिन के पहले तक घोड़े नहीं आये, तो राजा को संदेह हुआ कि अब तक जो घोड़े नहीं आये, और आगे कहाँ से आयेंगे? उनको सन्देह हो गया और सोचने लगे कि माणिक्कवाचकर ने हमें धोखा दे दिया। फिर वे क्रुद्ध हो गये और माणिक्कवाचकर को कैदखाने में डाल दिया। राजा ने उन्हें बहुत यातनाएँ दीं। पर माणिक्कवाचकर जेल में भी भगवान का ध्यान करते रहे और भगवान पर भजन रचते रहे। परन्तु निश्चित समय पर घोड़े पहुँच गये। स्वयं भगवान शिवजी घुडसवारों के नेता बने और एक सुन्दर एवं बड़े घोड़े पर सवार होकर आ रहे थे। कहते हैं कि उन्होंने वेदों को घोड़े बनाया और एक घोड़े पर सवार होकर आये। उन्होंने जंगल में घूमनेवाले गीदडों को घोडों और अपने गुणों को उनको हांकनेवाले घुडसवार बनाया। सभी घोड़े इतने सुन्दर और गंभीर थे कि देखनेवाले उन पर लट्टू हो जाते थे। जब पांडिय राजा ने सुना कि घोड़े आ रहे हैं, तब वे दौडकर महल से बाहर आये और उन खूबसूरत घोडों को देखकर दंग रह गये। ऐसे उच्च कोटि के घोडे उन्होंने पहले कभी नहीं देखे थे।

सभी घुडसवार अपने-अपने घोडे से नीचे उतरे और घोड़ों को राजा के सुपुर्द कर दिया। परन्तु घुड सवारों का नेता घोड़े पर बैठे-बैठे ही राजा से बोला कि "राजन्, घोड़ों को गिनकर ले लिजिये।" घुडसवार के नेता का यह व्यवहार राजा को तो बुरा लगा। लेकिन अच्छे घोड़े मिल जाने की खुशी में इसकी परवाह नहीं की। राजा ने घोडों को ले लिया। उन्होंने नये घोड़ों को भी पुराने घोड़ों के साथ अस्तबल में बंधवा देने की आज्ञा दी। फिर वे वहाँ से कैदखाने की ओर गये और माणिक्कवा-

चकर को कैद से छुडा दिया। उन्होंने माणिक्कवाचकर से अपनी जल्द-बाज़ी के लिए माफ़ी मांगी। फिर राजा महलों में आराम करने चले गये।

इधर घुडसवारों का नेता अपने साथियों के साथ वापस लौट चला। आधी रात को अस्तबल में अचानक कोई बडा शोरगुल सुनाई पड़ा। सभी पहरेदार जाग पड़े। राजा भी जाग पड़े। सारे घोड़े गीदड बन गये और जोर-जोर से चिल्लाने लगे। यही नहीं, वे पुराने घोड़ों को तंग भी करने लगे। पहरेदारों ने दौड़कर राजा को खबर दी। यह सुनकर राजा बहुत नाराज हुए। उन्हें माणिक्कवाचकर पर संदेह होने लगा। उन्होंने फिर उन्हें कद करने की आज्ञा दी और उन्हें कठोर दण्ड दिया। अब की बार राजा ने माणिक्कवाचकर को वैगै नदी की गरम रेत पर खडा करवाया। माणिक्कवाचकर ने इसकी भी परवाह नहीं की। उन्होंने समझा कि भगवान ही मेरी सहनशीलता की परीक्षा ले रहे हैं। यातनाएँ जितनी ही बढती हैं, उतनी ही भक्ति भी निखर उठती है। वे भगवान का नाम लेते रहे। भगवान सच्चे भक्त की पुकार अवश्य सुनते हैं। लेकिन बहुत देर तक सच्चे भक्त को यातनाएँ नहीं सहनी पडतीं। जोरों की वर्षा होने लगी और वैगै में बाढ आने लगी। एक ओर माणिक्कवा-चकर भगवान की दयालुता की प्रशंसा करते हुए खुश हो रहे थे, तो दूसरी ओर पांडिय राजा भयंकर बाढ से घबराने लगा। बाढ नदी के किनारों को तोडकर नगर के गली-कूचों में घुसने लगी। अब राजा समझ गया कि माणिक्कवाचकर को कष्ट देने के कारण ही यह अनर्थ उठ खडा हुआ है। उन्होंने तुरंत माणिक्कवाचकर को कैदखाने से छोड़ देने की आज्ञा दी। राजा ने उनसे प्रार्थना की कि इस संकट से हमको उबारिये। माणिक्क-वाचकर ने कहा कि टूटे किनारों को बंद करने का काम सभी नगर वासियों को दीजिये।

राजा ने ऐलान किया कि प्रत्येक घर वाले को एक-एक आदमी, टूटे किनारों को बंद करने के काम में लगाना चाहिये। जो इस कार्य में

योग नहीं देता, उसे कठोर दण्ड दिया जाएगा। राजाज्ञा पाकर सभी नगरवासी इस काम में जुट गये।

उस नगर में वन्दी नामक एक ग़रीब बुढिया रहती थी। उसका अपना कहने वाला कोई नहीं था। वह अकेली रहती थी। वह रोज पिट्टु (तुण्डुल-पिष्ठ जो चावल के आटे में गुड मिलाकर बनाया जाता है) बेचकर अपनी आजीविका चलाती थी। उसने घोषणा की कि जो कोई मेरी मदद करेगा उसे मैं पिट्टु खिलाऊँगी। वह प्रतिदिन पिट्टु बेचने के पहले किसी एक शिव भक्त को मुफ्त में थोडा पिट्टु खिलाती थी। प्रतिदिन के उसके इस कार्य से प्रसन्न होकर शिवजी स्वयं एक मज़दूर का वेष धारण करके उस बुढिया के सामने आ खड़े हुए। अपने सामने एक हृष्ट-पुष्ट, आकर्षक नौजवान को फावडे-टोकरी के साथ देखकर बुढिया प्रसन्न हो गयी।

बुढ़िया रोज चावल का आटा और गुड मिलाकर बेचने की सुविधा के लिए उसे भेली के समान गोल-गोल बनाती थी। अंत में जो थोडा बहुत आटा बच जाता था उसे किसी को दे देती थी। बुढ़िया वन्दी ने उस मजदूर से पूछा कि क्यों जी, मेरी ओर से काम करने तुम क्या मज़दूरी लोगे ? मेरे पास तो पिट्टू के अलावा कुछ है ही नहीं। जो पिट्टू बेचने के लिए है उस में से भेली न बन सके, आटा ही रह जाय, उसे ही तुम्हें मजदूरी के रूप में दे दूंगी। मंजूर हो तो बोलो। इस विचित्र मज़दूर ने बुढ़िया की बात मान ली। लेकिन आज वंदी गोल भेली बनाने बैठी, तो वह बना नहीं सकी। सारा का सारा टूट-टूट जाता था, आटा जैसे का तैसा ही रह गया। अब बुढ़िया क्या करती ? उसने सोचा कि यह भी भगवान की मर्ज़ी है। अपनी शर्त के अनुसार उसने सारा पिट्ट मजदूर को दे दिया।

मज़दूर कार्य के स्थान पर पहुँचा। उसने देखा कि सभी मज़दूर अपने-अपने काम में दत्त-चित्त होकर लगे हुए हैं। पर वन्दी का मज़दूर नदी के किनारे बैठकर पिट्टू खाने लगा। थोडी देर काम करता और उससे ज्यादा देर लेटकर आराम करता। सब मजदूर तो उसे देखते थे, परन्तु उसे डांटने की हिम्मत किसी में नहीं थी। नदी पर बुढ़िया का

हिस्सा बंद न होने से पानी अब भी किनारे से होकर बाहर बहने लगा था। अब लोग चुप नहीं रह सके। किसी ने जाकर पांड्यि राजा से इस विचित्र मजदूर के निठल्लेपन की शिकायत की। राजा बहुत क्रुद्ध हुआ। वह एक कोड़ा लेकर आया और उस मजदूर की पीठ पर जोर से कोड़ा मारने लगा। मजदूर की पीठ पर पहली मार पड़ते ही वहाँ खड़े हुए समस्त लोगों की पीठ पर भी मार पड़ने लगी। स्वयं राजा की पीठ पर भी मार पड़ी। सब स्तंभित खडे रह गये।

एकाएक नदी के किनारे का वह हिस्सा भी बंद हो गया। वह विचित्र मजदूर ग़ायब हो गया। राजा को अब मालूम हुआ कि यह सब माणिक्कवाचकर के कारण ही हुआ। वह दौडा माणिक्कवाचकर के पास आया और बोला—"मुझे क्षमा कीजिये। मैंने आपका और भगवान का महत्व नहीं जाना। आपका यह वचन कि सब चीजें भगवान की हैं, अभी मैं उसे जान सका। आप फिर राजमहल में पधारिये और पूर्ववत् राज-काज सँभालिये।" माणिक्कवाचकर का मन तो अब लौकिक बातों से उचट चुका था। उन्होंने राजा से कहा कि राजन्, आप मुझे क्षमा कर दीजिये। अब मैं अपना जीवन भगवान के गुणगानों में लगाना चाहता हूँ। माणिक्क-वाचकर ने अमात्य पद को त्याग दिया और अब वे सीधे तिरुपेरूंदूरै गाँव में आये जहाँ उन्हें प्रथम बार गुरु के दर्शन हुए थे। वे गुरु की सेवा में फिर पहुँचे और उनसे उपदेश पाने लगे। गुरु के उपदेशों से उनके मन ने पक्वावस्था को प्राप्त किया। फिर वे तमिलनाडु के प्रमुख तीर्थ-स्थानों में गये और वहाँ के शिव-मंदिर में विराजने वाले भगवान के दर्शन लाभ कर उनकी स्तुति में अनेकानेक भक्ति भरे मधुर गीत रचने लगे। मुख्यतया ये मदुरै और तिरुपेरूंदुरै में ही रहे। बाद को उत्तरकोशमंगै, तिरु-वारूर, तिरुकळुक्कुन्ड्रम, तिरूवण्णामलै, तिरूच्ची आदि स्थानों में भी गये। अंत में वे चिदंबरम पहुँचे और भगवान नटराज की स्तुति में कई गीत बनाये। यहीं उनकी भेंट सिंहल के राजा से हुई थी। सिंहल का राजा बौद्ध था। वह कई बौद्ध भिक्षुओं के साथ वहाँ आया था। सिंहल के राजा के साथ माणिक्कवाचकर का धर्म के विषय पर वाद-विवाद चलने

लगा। राजा के साथ उनकी गूँगी लडकी भी आयी थी। वाद-विवाद के समय राजा ने शर्त लगायी कि यदि माणिक्कवाचकर उस गूँगी लडकी से बुलवायेंगे, तो वे शैवधर्म को ग्रहण कर लेंगे। माणिक्कवाचकर ने इसे मान लिया।

बौद्धों ने जो भी प्रश्न किये, उनका माणिक्कवाचकर ने स्वयं उत्तर न देकर उसी गूंगी कन्या से उत्तर दिलवाया। एक तो गूंगी लडकी बोलने लगी और दूसरे बौद्ध लोगों के धर्म संबंधी तर्कों को भी वह काटने लगी। अंत में बौद्ध लोग माणिक्कवाचकर से तर्क में हार गये और अपनी शर्त के अनुसार वे शैव बन गये। इससे माणिक्कवाचकर की प्रतिभा और शिव भक्ति दूर तक फैलने लगी। इस बीच में वे कई तीर्थ-स्थानों का पर्यटन करके आये थे। जिन-जिन स्थानों पर गये वहाँ के भगवान की स्तुति में गीत भी रचे। अंत में श्री माणिक्कवाचकर ने चिदंबरम् नगर के बाहर एक स्थान पर रहकर अपना शेष जीवन बिताने का निश्चय किया। एक दिन भगवान शिव ने स्वयं एक ब्राह्मण के रूप में आकर कहा कि आप ने जिस ढंग से 'पावै' (तिरूवेम्बावै) लिखा, उसी प्रकार कोवै (तिरूकोवैयार) भी लिखें। ब्राह्मण की बात मानकर माणिक्कवाचकर बोलते गये और ब्राह्मण के रूप में आये भगवान लिखते गये। पूरा ग्रंथ लिखने के बाद वे अपना नाम भी उस ग्रंथ के अंत में लिखकर अपने साथ ले गये। माणिक्कवाचकर को इसका पता नहीं था कि भगवान ने ही स्वयं ब्राह्मण के वेष में आकर लेखक का काम किया। जब उन्होंने देखा कि ब्राह्मण का लिखा हुआ ग्रंथ शिवजी की सन्निधि में है, तब उन्हें ज्ञात हुआ कि भगवान को उन पर कितनी अपार कृपा है। भगवान का यह गुण देख कर उनकी आँखों में आनंद के कारण आँसू भर आये। अब उनकी भक्ति पूर्ण रूप से पक्वावस्था को प्राप्त हुई। अंत में माणिक्कवाचकर रूपी जीवात्मा भगवान रूपी परमात्मा में विलीन हो गयी। उस समय श्री माणिक्कवाचकर की आयु 32 वर्ष की थी।

इतनी छोटी आयु में उन्होंने भक्ति-भावना के कारण जो-जो स्तुति-गीत रचे, वे भले ही स्वांतः सुखाय रचे गये हों, परन्तु वे गीत पीछे की

संततियों के भक्ति मार्ग को प्रशस्त करने में बहुत ही उपयोगी रहे। साधारण मानव इतने कम समय में इतना महत्वपूर्ण कार्य नहीं कर सकता है। प्रसिद्ध शैव संत तिरुनावुक्करशर इन्हें नंदिदेव (नंदिकेश्वर) अवतार मानते हैं। कुछ लोग इन्हें मुनियों में एक मानते हैं। कुछ शैवपुराणों में इन्हें शिवगणों में एक कहा गया है। ऐसा महिमामय जीवन था, श्री माणिक्कवाचकर का।

माणिक्कवाचकर की रचनाएँ :

माणिक्कवाचकर की रचनाएँ दो हैं। एक है 'तिरुवाचकम्' और दूसरा है 'तिरुकोवैयार'। माणिक्कवाचकर ने समय-समय पर विभिन्न स्थानों में भगवान शिव की जो स्तुति की थी या महिमा गायी थी, उन्हीं का वृहत संग्रह है तिरुवाचकम! तिरुवाचकम के पद भक्तिभाव से ओतप्रोत हैं। जब जब इनका मन ईश्वर-भक्ति से द्रवित हुआ तब उन्होंने उसे कविता के रूप में प्रकट किया। इन पदों में पाठकों के मन को द्रवित कर देने की शक्ति है। जो कोई भी इन पदों को नियमित रूप से पढेगा, वह ईश्वर भक्त हुए बिना नहीं रह सकता। इन के बाद जो कोई संत कवि हुए उन्हें तिरुवाचकम से प्रेरणा मिली। वे कई बार इसे पढकर रोये हैं और आँसू बहाये हैं। जीवन के प्रारंभ काल में संस्कृत ग्रंथों का अध्ययन करने के कारण इनकी कविताओं में वेद, उपनिषद् के गंभीर भाव झलकते हैं। इन्होंने दास्य भाव को अपनाकर अपने उद्गार प्रकट किये हैं। तिरुवाचकम् में रहस्यवाद का भाव है। माणिक्कवाचकर अपने को जीवत्मा और भगवान शिव को परमात्मा मानकर दैन्य भाव के द्वारा अपने मन की बातों को कविताओं के द्वारा व्यक्त किया है। अपने को तुच्छ से तुच्छ व्यक्ति कहकर भगवान से प्रार्थना करते हैं कि मुझे उबारो।

'तिरुवाचकम्' में कुछ 656 पद हैं। ये 51 'पतिकमों' (कई पदों का संग्रह एक पतिकम् है।) में बंटा हुआ है। इनमें पहला शिवपुराण है। यही सबसे श्रेष्ठ 'पतिकम्' है। यह 95 पंक्तियों का है। तिरुपेरुं-

दुरै में रहते समय उन्होंने इसकी रचना की थी। इसमें शिवजी के गुणों का वर्णन कई विशेषण—शब्दों का प्रयोग करके किया गया है। प्रारंभ में माणिक्कवाचकर यों कहते हैं—"मैं शिवाजी को प्रणाम करता हूँ। वही सब का स्वामी है। उसके चरण सदा मेरे मन में लगे रहें। क्षण-भर भी उसे नहीं भूलूंगा।' चूंकि वे पहुँचे हुए संत थे, इसलिए वे जानते थे कि कई जन्म लेने के बाद मानव इस जन्म को प्राप्त करता है। इस सम्बन्ध में वे कहते हैं—"मैंने क्या-क्या जन्म नहीं लिया ? घास-फूस, पेड-पौधे, कीडे-मकोडे, पशु-पक्षी सब रूपों में मैंने जन्म लिया था और असंख्य यातनाएँ सही थीं। अंत में तुम्हारे साक्षात्कार के कारण मानव जन्म मिला। मैं आगे क्षण भर के लिए तुमसे अलग नहीं रह सकूंगा। मैं तो अज्ञानी हूँ। तुम ही ज्ञान का प्रकाश लेकर आये और अज्ञान से मुझे छुडाया।" इस प्रकार शिवपुराण के द्वारा अपना अनुभव बताकर माणिक्कवाचकर ने लोगों को उपदेश दिया है। इन पंक्तियों का नित्यप्रति पाठ करने वाले सच्चे शिवभक्त बनेंगे और संसार के बंधनों से मुक्त हो जायँगे। इसमें परमात्मा से मिलने के लिए जीवात्मा जो तडपती है उसका सुन्दर वर्णन किया गया है। यह रहस्यवाद का एक अच्छा उदाहरण है।

इसके अतिरिक्त उनके रचे गये पदों का परिचय, उनके रचे गये स्थान के अनुसार नीचे दे रहे हैं।

तिरुपेरुंदुरै में रचे गये पदों में अर्पुदपत्तु शेन्निपत्तु, अतिशयपत्तु, शेत्तिलापत्तु, आशैपत्तु, कुळैत्तपत्तु, अरुळ्पत्तु अडैक्कलप्पत्तु आदि हैं। इन सब रचनाओं में दस-दस पद हैं।

अर्पुतपत्तु में :– भगवान ने, उन्हें इस माया भरे संसार के प्रलोभनों, आकर्षणों और अन्य प्रकार की बुराइयों से बचाकर जो अपनाया उस पर वे आश्चर्य प्रकट करते हैं। वे कहते हैं—"स्त्रियों के सौन्दर्य के वशीभूत होकर मैं सुख भोगों में अपना पूरा जीवन व्यर्थ करता रहा। तुम ने ही मुझे सद्गति दी।" इसमें विशेषता यह है कि माणिक्कवाचकर जीवन-भर

अविवाहित रहे। उनके जीवन में किसी प्रकार का कलंक नहीं था। फिर भी इस प्रकार क्यों कहते हैं ? उन्होंने समस्त जीवत्माओं की स्थिति का, उनका प्रतिनिधि बनकर यों वर्णन किया है :

शेन्निपत्तु :–शेन्नि का अर्थ है सिर, पत्तु का अर्थ दस पदों में। माणिक्कवाचकर स्त्री पुरुष सबों से अपने आत्मानुभव को बताते हैं—"भगवान ने अपने गणों के साथ सुन्दर वृक्षों से भरे स्थान में दर्शन दिये और मुझे अपनाया। उन्होंने कृपादृष्टि से मुझे अजन्मा बना दिया। आप भी प्रार्थना करके अपने जीवन को कृतार्थ कर लीजिए। मैं चाहता हूँ कि इस तुच्छ प्राणी का सिर सदा उनके चरणों से लगा रहे।"

अतिश्यपत्तु :–माणिक्कवाचकर इसमें भगवान से निवेदन करते हैं कि अज्ञानता-वश पंचाक्षर का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सका। ज्ञानियों की संगति से अलग रहा। इस नश्वर संसार को शाश्वत समझता रहा। रोगों से भरे इस शरीर को सत्य समझ कर भ्रम में पड़ा रहा। भगवान ने जो समस्त रत्नों का ज्योतिर्पुंज है, मुझे अपनाया और अपने भक्तों की मण्डली में मुझे मिला लिया। भगवान की इस कृपा को देखकर मुझे आश्चर्य होता है।

शेत्तिलापत्तु में :–शिवजी के साक्षात्कार से जो अत्यधिक आनंद प्राप्त हुआ उसके संबंध में कहा है। जीवित रहने के लिए शरीर आधार है। फिर भी उस शरीर को निर्जीव वस्तु के समान समझ कर भगवान में जो अपना ध्यान लगाता है, वही सच्चा ज्ञानी है। ज्ञान के उदय होते ही जीवात्मा शरीर से निकल जाती है और शिवजी प्रकाशमान हो जाते हैं। परमहंसोपनिषद के मंत्र—"स्ववपुः कुणपमिव दृश्यते (अर्थात् ज्ञानी अपने शरीर को शव के समान समझता है) का भाव इन समाप्त पदों में परिलक्षित है। अंत में वे कहते हैं—"हे भगवान्, तुमने कहा, मैं ही तुम हूँ, इसलिए तुम मुझमें आकर फिर लीन हो गये।" इस में भी जीवात्मा-परमात्मा तत्व द्रष्टव्य है।

आशैपत्तु :—आशैपत्तु में कहते हैं कि यह जीवात्मा तुम्हारा ही अंश है। इस नश्वर शरीर में वह ऐसा कह रहा है जैसे इमली का गूदा पकने पर उसके छिलके से अलग रहता है। इस संसार के जीवन का खूब अनुभव कर चुका हूँ। अब आपसे मिलकर रहने में जो परमानंद मुझे मिलता है उसी की मुझे इच्छा है। संसारिक जीवन से भरा हुआ है। तुम में जो लीन हो जाता है उसे कोई भय नहीं है।

कुळैत्तपत्तु:— में कवि अपनी दुर्बलताओं को बताकर भगवान से प्रार्थना करते हैं कि आगे भी मुझे इस शरीर में बंद करके मत रखो। मैंने तो पहले ही अपने को तुम्हारे सुपुर्द कर दिया है। तुम अब जो चाहो करो। इस में शरणागति तत्व का सुन्दर प्रतिपादन है।

अरुळ्पत्तु :—के दसों पदों में भगवान की कृपा का पात्र बनने की इच्छा प्रकट करते हैं। वे शीघ्र ही इस माया भरी दुनिया से निकल भागना चाहते हैं।

अडैकलपत्तु :—अडैकलम का अर्थ है शरण में जाना। भगवान के चरणों में वे अपने को अर्पित करते हैं और निवेदन करते हैं कि मुझे अपनाओ। इन पदों में सुखभोग का खण्डन करके इन्द्रिय-निग्रह की आवश्यकता बताते हैं।

इस प्रकार तिरुपेरुंदुर नामक स्थान पर रचे गये अन्य पदों में भी सुख भोग का खण्डन करके अटल भक्ति को अपनाने की जबरदस्त प्रार्थना की है। वे भगवान की कृपा और चरणों के अलावा और किसी वस्तु की कामना नहीं करते हैं। ऐहिक सुखों को उन्होंने तुच्छ बताया है। उन्होंने बार-बार कहा है कि भगवान को पाने के लिए शारीरिक और मानसिक शुद्धता की आवश्यकता है। शिव साक्षात्कार हो जाने पर वे अत्यन्त प्रसन्न होकर कहते हैं— मुझे धन, कीर्ति, भूमि, स्वर्ग, शिवजी के वैरी की मित्रता आदि नहीं चाहिए। भगवान के चरण मिल जाएँ, तो पर्याप्त है। अन्य रचनाओं तिरुच्चतकम, पंडायनान्मरै, पांडियपतिक्रम, प्रार्थना-पत्तु, तिरुवेण्या, पुर्णाचिपत्त आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

चिदंबरम में पहुँचते-पहुँचते माणिक्कवाचकर का मन और अधिक प्रौढ बन गया। भक्ति की भावना मानों अपना बांध तोड़ कर निकल गयी है। ऐसा लगता है। यहाँ जितने भी पद गाये थे, उन सब में चिदंबरम में विराजे भगवान नटराज की महिमा और कीर्ति है। भगवान का साक्षात्कार तो यहाँ भी कई बार हो गया। उस आनंद में उन्होंने दूसरों को उपदेश दिया है कि भगवान के चरण की प्राप्ति के बिना हमारे संकटों का निवारण नहीं हो सकता है।

माणिक्कवाचकर ने अपने पर्यटन के समय ग्रामीण स्त्रियों के खेल आदि को भी देखा है। उन खेलों के खेलने वालियों के मुँह से भगवान की महिमा बतायी है। 'तिरुउंदियार' नामक खेल में लड़कियाँ पत्थर को या कच्ची फली को उछालकर खेलती हैं। 'चाळल्' दूसरे प्रकार का खेल है, जिसमें हर लड़की दूसरी से प्रश्न करती है और वह उपयुक्त उत्तर देती है। 'तिरुनेल्लाणम' तीसरे प्रकार का खेल है जिसमें लड़कियाँ 'तेला, तेला' कहती हुई और तालियाँ बजाती हुई गाती हैं। 'तिरुपोन्नूरुल' में लड़कियाँ गाती हुई झूला झूलती हैं। माणिक्कवाचकर ने इन सब खेलों का परिचय देते हुए उन खेलनेवालियों द्वारा ईश्वर भक्ति का महत्व भी बुलवाया है।

तमिल साहित्य में भ्रमर और पक्षी द्वारा सन्देश भेजने की रीति रही है। माणिक्कवाचकरने कोयल और भ्रमर को संबोधित करके कहा है कि हे भ्रमर, हे कोयल, तुम अपनी मीठी वाणी से भगवान की महिमा गाओ।' 'कुयिल पत्तु' और 'कोत्तुम्बी' में सन्देश के मधुर गीत हैं।

'तिरुप्पडै एळुच्ची और तिरुप्पडै आट्ची दो-दो और रचनाएँ हैं। तिरुप्पडै एळुच्ची का अर्थ है सैन्य का युद्ध के लिए तैयार होना। यहाँ अज्ञानता से युद्ध करने के लिए ईश्वर के नाम को नगाडा, ईश्वर को सैनाध्यक्ष, विवेक को छत्र, विभूति को कवच, आकाश को राज्य और कामक्रोधादि को रिपु बनाया गया है। दूसरे पदका अर्थ है सैन्य का शासन। यहाँ हमारे मन पर भगवान का शासन हो, इसकी इच्छा प्रकट की गयी है।

तिरुप्पल्ळी एळुच्ची इनका बहुत ही सुन्दर और मधुर गीत संग्रह है। इस में के दसों गीत प्रातः काल में गाने योग्य हैं। माणिक्कवाचकर इन पदों के द्वारा भगवान से विनीत भावसे प्रार्थना करते हैं—हे सृष्टि के मूल ! अपनी शय्या से उठकर हमारी ओर कृपा दृष्टि फेरिये। सरोवरों में कमल खिल गये हैं। पक्षी चहचहाने लगे हैं। नक्षत्र छिप गये हैं। सूर्य पूर्वी दिशा में उदित होने लगा है। मंदिरों में शंख बजने लगे हैं। आपके भक्त आपके दर्शन के लिए द्वार पर खडे हैं। और विलंब करना कृपासिंधु, आपके लिए शोभा नहीं देता है। कृपया उठिये। इन पद संग्रह में प्रातःकाल के सुन्दर दृश्यों का वर्णन अत्यंत आकर्षक और मधुर ढंग से किया गया है जो बार बार पढकर रसास्वादन करने योग्य है।

तिरुवेम्बावै: यह माणिक्कवाचकर की प्रसिद्ध रचना है। गेय पद हैं जो तिरुवण्णामलै में गाये गये थे। यहाँ रहते समय उन्होंने देखा कि कुँवारी लड़कियाँ प्रातःकाल उठकर स्नान करके भगवान का नाम जपते हुए मंदिर की ओर जा रही थीं। मार्गशीर्ष का महीना था। जाडा पड रहा था। तब भी वे लडकियाँ देवी की पूजा करने जा रही थीं। उस समय ये गीत रचे गये। उत्तरायण काल देवों का दिन माना जाता है और दक्षिणायन रात मानी जाती है। मार्गशीर्ष मास दक्षिणायन का अंतिम समय होने से उसे देवों का प्रातःकाल या ब्रह्ममुहूर्त मानते हैं। ब्रह्ममुहूर्त ही भगवत् ध्यान के लिए उपयुक्त समय है। इसलिए उस समय भगवान की प्रार्थना करने से लाभ मिलता है। कुंवारी लडकियाँ सवेरे उठकर सोने-वाली अपनी सहेलियों के घर जाकर उन सबको जगाती हैं। फिर सब मिलकर तालाब में स्नान करने जाती हैं। फिर भगवान का गुणगान करती हैं। इन सबका सुन्दर और मधुर वर्णन इन बीसों पदों में हुआ है। तिरुवेम्बावै इतना प्रसिद्ध है कि यह केवल तमिलनाडु में ही न थाईलान्ड और जावा आदि विदेशों में आज भी गाये जाते हैं। लोगों का विश्वास है कि इन गीतों को नियमित रूप से गाने से देश की समृद्धि आती है। अविवाहित लडकियाँ व्रतादि करने जब उनको गाती हैं तब उनको मन चाहा पति मिल जाता है। इसमें जीवात्मा-परमात्मा तत्व का प्रतिपादन

है। भगवान परमात्मा हैं, सोनेवाली कन्यायें अपक्व जीवात्मा हैं। जगाने वाली कन्यायें पक्वावस्था को प्राप्त भक्त के समान हैं। निद्रा अज्ञानता है। ईश्वरत्व स्नान करने का जल है। इस प्रकार इन पदों में एक साथ लौकिक-अलौकिक बातें रहती हैं।

तिरुअम्मानै : यह भी बीस पदों का 'पतिकम्' है। यह भी तिरु-वण्णामलै में रचा गया। तिरु+अम्मानै दो शब्दों का बना हुआ शीर्षक है, जिसका अर्थ सुन्दर है। अम्मानै एक प्रकार का खेल है जो साधा-रणतः स्त्रियाँ खेलती हैं। तीन लकडी के गोल टुकडों को हाथ से उछाल कर खेलते हैं। खेलते समय प्रत्येक हाथ में एक टुकडा रहता है और एक ऊपर फेंका जाता है। इस शीघ्रता से खेलते हैं कि तीनों बारी-बारी से ऊपर नीचे जाते-आते रहते हैं। इस खेल के समय भी गाने की प्रथा रही है। इन बीसों पदों के अंत में अम्मानै शब्द का प्रयोग से किया गया है। इसमें एक स्त्री के द्वारा दूसरी स्त्री से कवि ने यह कहल-वाया है कि तिरुपेरुंदुरै के मंदिर में विराजमान भगवान ने उसे कैसे अपनाया। हम मिलकर गावें और संसार को उनकी महिमा बतावें।

तिरुवाचकम क्षीरोदधि है। जैसे क्षीरोदधि में जिस घाट में भी उतरें वह मीठा लगता है वैसे तिरुवाचकम के कुल 656 पदों में जिस किसी को हम पढ़ें वह मधुर लगता है। भगवान को प्रेम स्वरूप मान कर गाया है। उनकी कृपा से बढ़कर संसार में उनको सुखप्रद वस्तु नहीं है। भक्ति में विभोर होकर, आँसू बहाते हुए मधुर शब्दों का प्रयोग करके उन्होंने जो पद रचे हैं उन्हें गानेवाले, सुननेवाले दोनों भक्ति से द्रवित हो जाते हैं। इन पदों में भक्ति के साथ-साथ भाव प्रवणता, शब्द और अर्थ सौन्दर्य मिलते हैं। वेद और उपनिषदों के तत्वों को इन पदों में हम पा सकते हैं। भक्ति के क्षेत्र में श्री माणिक्कवाचकर ने, जो नैष्ठिक ब्रह्मचारी थे, जो अनुभव प्राप्त किया उन्हें सुन्दर पदों के रूप में रखा है। इसे वेद और उपनिषद के तत्वों का सारांश कहें तो अत्युक्ति नहीं होगी। जी. यु. पोप ने इसका अनुवाद अंग्रेजी में किया है। तिरुवाचकम तमिल के भक्ति साहित्य का अद्वितीय ग्रंथ है।

तिरुकोवैयार :—माणिक्कवाचकर का एक लघु प्रबंध काव्य है। इस में दो शब्द हैं तिरु+कोवैयार। तिरु का अर्थ सुन्दर है, कोवैयार—एक प्रकार के श्रेष्ठ प्रबंध काव्य को कहते हैं। यह ग्रंथ तमिल साहित्य का पुराना प्रबंध काव्य माना जाता है। कहते हैं कि भगवान शिव ने स्वयं इनसे कहा (ब्राह्मण के वेष में आकर) कि इस प्रकार का प्रबंध लिखो। माणिक्कवाचकर बोलते गये और भगवान अपने हाथ से लिखते गये।

यह एक प्रकार का प्रेम काव्य है। इसमें कुल 400 पद हैं। इस प्रबंध को लिखने का उद्देश्य जीवात्मा-परमात्मा का संबंध बनाना मात्र है। उनके लिए एक कथा को साधन बनाया गया। वास्तविक उद्देश्य कथा लिखना नहीं है। ऊपर से देखने पर इसमें लौकिक प्रेम का वर्णन है। परंतु इस में गंभीर आध्यात्मिक प्रेम का प्रतिपादन हुआ है।

एक युवक एक युवति से मिलता है। वह पहाडी स्थान है। उस स्थान पर उसके अलावा और कोई नहीं है। तब दोनों एक दूसरे से प्रेम करते हैं। फिर विवाह करके जीवनयापन करते हैं। बड़े सुख से उनके दिन कटते हैं। एक दिन वह किसी कार्य से विदेश चला जाता है। लौटने में काफ़ी दिन लग जाते हैं। दोनों को वियोग का दुख सताता है। पति को अपेक्षा पत्नी को उमसे अधिक पीड़ा होती है। वियोग के दुःख को सहते हुए वह उस दिन की प्रतीक्षा में है, जब वह लौटकर आने को कह गया था। मिलन की तड़प तीव्र होती जाती है। आखिर मिलन होती है :

इसे जो पढ़ते हैं वे अपनी रुचि के अनुसार अर्थ लगायेंगे। वेदों को जानने वाले इसे पढ़ेंगे तो वे इसे वेद का निचोड कहेंगे, योगी लोग इसे आगम कहेंगे, कामुक लोग इसमें कामशास्त्र-आनन्द पायेंगे। तर्क शास्त्री इसे तर्क शास्त्री कहेंगे, वैयाकरण और काव्य शास्त्री क्रमश: व्याकरण और काव्यशास्त्र कहेंगे। वास्तव में यह आध्यात्मिक भाव से भरा हुआ सुन्दर और गंभीर प्रबंध है। जो जैसा दृष्टिकोण लेकर देखते हैं वैसा दिखाई पडना इस ग्रंथ की विशेषता है। सभी दृष्टि से काव्य ग्रंथ अच्छा माना जाता है।

कोई-कोई तिरुक्कोवैयार को श्री माणिक्कवाचकर का रचा हुआ नहीं मानते हैं। परंतु अधिकतर विद्वानों का मत है कि यह उन्हीं का रचा हुआ है। इन दोनों काव्य ग्रंथों को तमिल साहित्य और तमिल भाषियों को देकर माणिक्कवाचकर अमर कीर्ति के पात्र बने।

लेखक : **एम. सुब्रह्मण्यम**, पांडिचेरी

। ॐ ।

जगद्गुरु श्री. शंकराचार्य

दक्षिण भारत के प्रथम कोटि के महान सन्तों में जगद्गुरु श्री. शंकराचार्य का नाम सर्वथा प्रथम गणनीय है। उन को साधारणतः अद्वैत सिद्धान्त का प्रचारक और अलौकिक महात्मा ही माना जाता है। परन्तु हम उस महापुरुष को हिन्दुस्तान की असली भावात्मक एवं आध्यात्मिक राष्ट्रीयता और प्राचीन काल की राष्ट्रभाषा संस्कृत के 'प्रथम प्रचारक' कह सकते हैं, क्योंकि उन दिनों की सब से अधिक प्रचलित भाषा संस्कृत के सहारे उन्होंने अपने काल की दुनिया के सामने भारत के अद्वितीय एवं अनश्वर आदर्शों और सन्देशों को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत कर रखने का अत्यन्त कठिन कार्य किया था। निस्सन्देह श्री. शंकराचार्य अपनी असाधारण प्रतिभा और परिव्राजक की सी कर्तव्य-निष्ठा के बल पर तमाम हिन्दुस्तान के लोगों को एक सुन्दर और सुखद आध्यात्मिक साम्राज्य की परिसीमा के भीतर हमेशा के लिए खींच लाकर धार्मिक एकता के अटूट सूत्र से बाँध रखने के महान कार्य में पूर्ण रूप से कामयाब हुए हैं। अतएव इस बीसवीं सदी के नवीनतम युग में भी भारत के लोग उनको परम श्रेष्ठ गुरुदेव और महान आचार्य मान कर पूजते हैं। वे सच्चे अर्थ में सवदा 'जगद्गुरु' ही माने जाएँगे, इस में मतभेद होना संभव नहीं है।

जन्म और बचपन :–

श्री. शंकराचार्य का अवतार केरल राज्य के 'कालटि' नामक पहाडी गाँव में हुआ था। 'कालटि' प्राचीन 'तिरुवितांकूर' (ट्रावनकूर) रियासत की उत्तरी सरहद पर 'पूर्णा' अथवा 'पॅरियार' नदी के किनारे बसा हुआ एक छोटा-सा सुहावना गाँव है। पुराने ज़माने में यह गाँव कोच्चिन के राजाओं के अधिकार में था। कहा जाता है कि श्री. शंकराचार्य के अवतार के पहले 'कालटि' का कोई दूसरा नाम था, जो इस समय किसीको मालूम नहीं है। लेकिन जब भगवान् श्री. शंकराचार्य ने अपनी आदर्श सेवाओं से सारे भारतवर्ष को अपने पैरों-तले झुकाया था, तब लोगों ने बड़ी खुशी से उनके जन्म-स्थल का पुराना नाम बदल कर 'कालटि' रखा था, जिसका मतलब मलयालम भाषा में 'पाँवों-तले' अथवा 'चरणों के नीचे' होता है। सचमुच आचार्य ने समूचे हिन्दुस्तान को ही नहीं, बल्कि समस्त संसार को सर्वदा के लिए अपने पवित्र चरणों के नीचे असीम भक्ति और श्रद्धा के साथ नत-मस्तक कर रखा है।

आज तक उपलब्ध कई प्रमाणों के आधार पर यही सही माना जाता है कि उसी 'कालटि' गाँव के 'कैप्पलि इल्लम्' नामक एक नम्पूतिरी-ब्राह्मण-घराने में श्री. शंकराचार्य का जन्म सन्. 788 में हुआ था। आचार्य के पुण्यवान् पिता 'शिवगुरु' एक बड़े भक्त ब्राह्मण थे। उनकी सौभाग्यवती माता का नाम 'आर्या' अथवा 'विशिष्टा देवी' बताया जाता है। श्री. शंकर इन्हीं माँ-बाप के इकलौते बेटे थे। हमारे देश के कई अन्य महा-पुरुषों के जन्म के समान आचार्य के जन्म के बारे में भी सैकड़ों दन्त-कथाएँ और दिव्य घटनाएँ जनता में फैली हुई हैं। उन सबसे यही बात ज़ाहिर होती है कि वे कोई असाधारण दैवी-शक्ति रखनेवाले महात्मा जरूर थे। उनको भारत के कई लोग स्वयं भगवान शंकर का अवतार भी मानते हैं। श्री. शंकर के बचपन के बारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। लेकिन इसमें कोई सन्देह नहीं है कि वे पढ़ने-लिखने में बड़े प्रतिभा-शाली बालक थे; इसलिए सिर्फ सात या आठ सालों की छोटी अवस्था में ही उन्होंने अपनी मातृ-भाषा मलयालम तथा संस्कृत के तमाम मुख्य काव्यों

और पुराणों का अध्ययन पूरा किया था। उसके बाद वे वेदों और शास्त्रों के अध्ययन में लग गये। सचमुच उस समय के बालक श्री. शंकर को हम 'उम्र में बच्चे' और 'इल्म में बूढ़े' कह सकते हैं।

कुछ विद्वानों का कहना है कि श्री. शंकर के पिता शिवगुरु का स्वर्ग-वास अपने पुत्र-रत्न के जन्म के दो चार महीनों के पहिले ही हो चुका था, जिससे आचार्य को विधवा-पुत्र मान कर केरल के कई लकीर के फ़कीर नम्पूतिरी-ब्राह्मण लोग उन पर भी भ्रष्ट सन्तान होने का बड़ा कलंक लगाया करते थे। लेकिन दूसरे कई लोगों की राय है कि श्री. शंकर के पाँचवें वर्ष में ही शिवगुरु परलोक सिधार गये। चाहे जो हो, यह सभी मानते हैं कि आचार्य के उपनयन-संस्कार के अवसर पर उन के पिता इस दुनियाँ में नहीं थे। उन की माता ने अपने लाड़ले पुत्र के पालन-पोषण में कोई बात उठा न रखी थी। उपनयन-संस्कार के बाद श्री. शंकर अपने ब्रह्मचर्याश्रम में प्रविष्ट हुए और वेदों तथा अन्यान्य धर्म-ग्रन्थों के गहरे अध्ययन में पूर्ण रूप से लग गये। उन दिनों कई प्रकार के अलौकिक एवं आश्चर्यपूर्ण काम करके उन्होंने सारे देश में अनितर-साधारण प्रशस्ति प्राप्त कर ली थी। अतः हमारा यह विचार है कि यहाँ उनमें से एक-दो मनो-रंजक घटनाओं का संक्षिप्त परिचय देना अनुचित न होगा।

लड़कपन के चमत्कार :-

एक बार अपने अन्य कई साधारण सह पाठी ब्रह्मचारी-बालकों के साथ अपनी कुटी से श्री. शंकर भिक्षाटनार्थ निकले। घूमते-घूमते वे सब एक पुराने टूटे-फूटे घर के सामने जा पहुँचे। उस घर में केवल एक बुढ़िया ब्राह्मणी स्त्री रहती थी। जब बालक श्री. शंकर उसके यहाँ भिक्षा माँगने गये तो उस गरीब स्त्री के पास चावल का एक कण भी नहीं बचा था। इसलिए वह बड़ी उदास और व्याकुल हो गयी। स्वयं आँसू पोंछते हुए अपने पास जो आँवला मौजूद था, उसी को ले जाकर उस देवी ने बड़ी श्रद्धा से श्री. शंकर के भिक्षा-पात्र में डाल दिया। सर्वज्ञ और बुद्धिमान बालक को तुरन्त उस बुढ़िया की असीम गरीबी का पूरा पता लग गया। इसलिए उन्होंने वहीं पर खड़े-खड़े

ऐश्वर्य-प्रदायिनी साक्षात् श्री. लक्ष्मी देवी की खूब स्तुति की । कहा जाता है कि उसी समय श्री. शंकर के स्तोत्र से अत्यन्त सन्तुष्ट होकर श्री. लक्ष्मी देवी ने वहीं आंगन में आसमान से हजारों 'सोने के बने आँवले' बरसा दिये । उन सब कनक के आँवलों को बालक श्री. शंकर ने उसी बुढ़िया को भेंट के रूप में चढ़ा दिया । बुढ़िया ने अत्यन्त प्रसन्न होकर श्री. शंकर को हार्दिक आशीर्वाद भी दिया । इस प्रकार बालक श्री. शंकर ने उस दिन एक बुढ़िया माता की भयानक गरीबी दूर करने के बाद ही वहाँ से अन्यत्र प्रस्थान किया था । लोग कहते हैं कि इस समय भी मध्य केरल में 'स्वर्णत्तुमना' नामक जो धनी नम्पूतिरी-भवन विद्यमान है, वही उस बुढ़िया ब्राह्मणी का पुराना घर था । ऊपर लिखित आश्चर्यमयी घटना का आभास उस घर के वर्तमान नाम से भी हमको जरूर मिलता है । श्री शंकर ने स्वयं उस समय जो लक्ष्मी-स्तुति की थी, वही आज 'कनक-धारा-स्तोत्र' के नाम से भक्त-जनों के बीच में खूब प्रचलित है । अपनी असह्-नीय गरीबी के पंजे से छुटकारा पाने के इच्छुक सभी भक्त लोग आज भी बड़ी श्रद्धा और विश्वास के साथ 'कनक-धारा-स्तोत्र' का पाठ प्रतिदिन सांझ-सबेरे किया करते हैं ।

माँ का स्नेह और सन्यास का मोह –

ब्रह्मचर्याश्रम की सारी रस्में अदा करके श्री शंकर जब अपने घर वापस आये तब वे अपने ज्ञान और पाण्डित्य के लिए बहुत ही प्रसिद्ध हो चुके थे । इसलिए उन की विधवा माता की खुशी का ठिकाना न रहा । उन्होंने अपने प्यारे पुत्र की शादी जल्दी से जल्दी कर डालने का इरादा किया । लेकिन श्री. शंकर का जीवन तो साधारण मनुष्य की तरह घरेलू झंझटों में खप जाने के लिए नहीं बना हुआ था । वे अपनी माता की अभिलाषा के विरुद्ध स्वयं सन्यासी बन जाने का संकल्प कर रहे थे । जब उन्होंने अपनी माता को अपने पवित्र संकल्प की बात समझायी तब उस बेचारी को वह बिलकुल पसन्द नहीं आयी । वे अपने इकलौते बेटे को सन्यास केलिए यों छोडने को तैयार नहीं थीं । इसलिए उन्होंने अपने पुत्र को

उस समय सन्यासी होकर दीक्षा लेने की अनुमति नहीं दी। मातृभक्त श्री. शंकर ने भी तब अपनी प्रिय माता को एक दम अप्रसन्न करके अपनी उस अभिलाषा को पूर्ण करना ठीक नहीं माना था। लेकिन उस विकट परिस्थिति में श्री. शंकर सचमुच भारी दुविधा में पड गये और मन ही मन भगवान से माता को अपनी इच्छा के अनुकूल बनाने की प्रार्थना करने लगे।

उस के बाद एक दिन वे पूर्णा नदी में स्नान कर रहे थे। उस समय नदी के प्रवाह में अधीर होकर बढ़नेवाले किसी दुष्ट मगर ने उन का पाँव पकड़ कर अपनी ओर जोर से खींचना शुरू किया। वे बिलकुल घबरा उठे और उस मगर के कठोर पंजे सें बचने का पूरी कोशिश करने लगे। लेकिन वह काम उतना आसान नहीं था, क्योंकि वह मगर उन्हें किसी प्रकार छोडकर जानेवाला नहीं था। तब बुद्धिमान श्री. शंकर ने ऐन मौका पाकर अपनी प्रिय माता को रोते हुए चिल्ला-चिल्ला कर निकट बुलाया और आँसू बहाते हुए उन से यों व्याकुल स्वर में निवेदन किया-"माँ, माँ, कम से कम तुम मुझे इस मगर के मुँह में जाने के पहले—अपनी इस आसन्न मृत्यु के पहले ही सही एक बार सन्यास लेने की अनुमति दे दो। यदि तुम इतनी कृपा करोगी, तो शायद यह मगर अब मुझे छोड़ देगा। नहीं तो, यह दुष्ट मुझ को ज़रूर पानी में डुबा लेगा और मेरा सर्वनाश कर डालेगा। कहो माँ, अब क्या आदेश देती हो ?" अपने प्यारे पुत्र कीं ये दर्द-भरी बातें सुन कर बेचारी माँ ने, लाचार होकर, श्री. शंकर को उसी समय सन्यास लेने की अनुमति प्रदान की। कहा जाता है कि उसी दम श्री. शंकर तो उस भयानक मगर के कठोर पंजे से अचानक बच गये और तैरते हुए नदीके किनारे पहुँच कर अपनी दुःखी माता को साष्टांग प्रमाण किया। सच है, इस रहस्यपूर्ण संसार की प्रवाहशील नदी की अगाधता में जो माया-रूपी भयानक मगर रहता है, उसके ग्रास अथवा पंजे से मुक्त होने केलिए स्वार्थ और सर्वस्व का परित्याग अत्यन्त आवश्यक है। कदाचित् पूण सन्यास के अलावा दूसरा कोई सफल और श्रेष्ठ उपाय श्री. शंकराचार्य को उस समय नहीं सूझा होगा।

गुरु की खोज में :–

उपर्युक्त अद्भुत घटना के बाद किसी शुभ दिन के प्रात:कालीन ब्रह्म-मुहूर्त में श्री. शंकराचार्य अपनी माँ की स्पष्ट अनुमति और असीम आशीर्वाद लेकर अपने लिए एक सुयोग्य गुरु जी खोज में उत्तर भारत की तरफ़ रवाना हुए । आने के पहले उन्होंने अपनी दु:खी माँ को समुचित सान्त्वना देते हुए यह वचन भी दिया था कि वे अपनी माता की मौत के पहले ज़रूर उन के निकट किसी न किसी प्रकार पहुँच जाएँगे । जब श्री. शंकर चले गये, उस दिन से उनकी माता श्री. आर्यादेवी को केवल अपने महान पुत्र के उज्ज्वल भविष्यकी मधुर कल्पना-मात्र से सर्वदा आनन्दित रहने की एक प्रकार की अपूर्व सिद्धि भी संप्राप्त हो गयी। इसलिए उन्होंने अत्यधिक हर्ष और उत्साह के साथ श्री. शंकर को विदा मात्र नहीं किया था, मगर अपने वियोग के शेष दिन पूरे आनन्द और उल्लास से काटने भी लगीं।

श्री. शंकराचार्य एक सुयोग्य गुरुवर्य की खोज में कई पुण्य तीर्थों और प्रसिद्ध नगरों में घूमते-घूमते एक रोज नर्मदा नदी के किनारे एक ऐसे स्थान पर पहुँचे, जहाँ एक सुन्दर पर्णकुटी बनी हुई थी । उस कुटी के भीतर श्री. शंकराचार्य ने किसी महान योगी को ध्यान-मग्न बैठे देखा, तो उस यतिवर्य के सामने जाकर वे नतमस्तक खडे हो गये । वहीं वे बड़ी देर तक एकाग्र भाव से उन की ओर देखते ही रह गये । आखिर जब मुनि ने अपनी आँखें खोल कर देखा, तो युवक श्री. शंकर को अपने आगे साष्टांग प्रणाम करते हुए पाया । खुशी और अचरज के साथ उस महर्षि ने श्री. शंकर को दोनों हाथों से उठाया और बडे प्रेम से अपनी छाती से लगा लिया, मानों कोई दु:खी पिता अपने खोये पुत्र से पुन: भेंट कर रहा हो । फिर उस मुनि ने आश्चर्य और आनन्द से पुलकित होकर आचार्य श्री. शंकर भगवान् से ऐसा एक प्रश्न किया–'हे वत्स, तुम कौन हो ?' आचार्य ने उन के उस एक मात्र विचित्र प्रश्न का जो अद्भुत जवाब दिया था, वह संस्कृत भाषा में रचे दस श्लोकों के रूप में विद्यमान हैं । वे दसों महान् श्लोक उसी दम मन ही मन रचकर श्री. शंकर ने सुनाये थे । उन्हीं श्लोकों को आज हम 'दश-श्लोकी' के नाम से पुकारते हैं और वे श्री. शंकराचार्य के लघु काव्यों

के अन्तर्गत विशेष महत्वपूर्ण माने जाते हैं। नमूने के लिए यहाँ उन में से एक मात्र सरल श्लोक का उद्धरण प्रस्तुत किया जाता है जिससे इस बात का पता सब को लग सकता है कि आचार्य श्री. शंकर सचमुच कितने महान और गंभीर आत्मज्ञानी पुरुष थे। उन्होंने अपना परिचय देते हुए उस योगी को यों सुनाया :–

'न भूमिर्नतोयं न तेजो न वायु:
न खं नेन्द्रियं चा न तेषां समूहम्
अनेकान्तिकत्वात् सुषुप्त्यैकसिद्ध–
स्तदेकोवशिष्ट: शिव: केवलोहम्

आचार्य का दिया गया जवाब सुनकर महर्षि अत्यन्त प्रसन्न हो उठे। उन्होंने श्री. शंकर को अनेकों दिव्य उपदेश दिये। उस के बाद शीघ्र ही श्री. शंकर को सन्यास-धर्म की परम श्रेष्ठ दीक्षा भी प्रदान की। तब से ब्रह्मचारी शंकर परम आचार्य और सद्गुरु की पदवी के अधिकारी बन गये। उन्हीं महात्मा योगी महर्षि का शुभ नाम 'गोविन्दस्वामी' बताया जाता है। कई इतिहासवेत्ता विद्वानों की राय यह है कि वास्तव में श्री. शंकराचार्य के गुरुदेव 'गोविन्दस्वामी' नर्मदा नदी के किनारे नहीं रहते थे, बल्कि वे हिमालय पहाड़ की किसी सुनसान तराई के रहने वाले थे और श्री. शंकराचार्य ने वहीं जाकर उनसे भेंट की थी। चाहे जो हो मगर इसमें कोई मत-भेद नहीं है कि 'गोविन्दस्वामी' नामक एक महात्मा ने ही श्री. शंकराचार्य को सन्यास-धर्म की दीक्षा दी थी, क्योंकि उन्होंने स्वयं अपने इस गुरुदेव 'गोविन्दस्वामी' की वन्दना अकसर अपने सभी लघु काव्यों के आरम्भ में अवश्य की है। इसके अलावा उन्होंने 'भज गोविन्दम्' नामक एक अलग छोटी-सी कविता भी रचकर गुरु गोविन्दस्वामी के प्रति अपनी अपार श्रद्धा और गहरी भक्ति प्रकट की है। 'विवेक चूडामणि' नामक ग्रन्थ में भी श्री. शंकराचार्य ने अपने गुरुदेव गोविन्दस्वामी की वन्दना की है। कहा जाता है कि श्री. शंकराचार्य का सुप्रसिद्ध 'ब्रह्मसूत्र-भाष्य' इन्हीं महात्मा गोविन्दस्वामी के अनुरोध और आदेश के अनुसार रचा गया था।

परिव्राजक और प्रवाचक :-

सन्यासी बनने के बाद श्री. शंकराचार्य को अपने गुरुदेव की सेवा में बहुत अधिक दिनों तक रहने की सुविधा नहीं मिली; क्योंकि उन्हें स्वामी जी के आज्ञानुसार पुण्यपुरी काशी जाकर अद्वैत वेदान्त-धर्म के प्रचार-कार्य में लग जाना पड़ा। वास्तव में श्री. शंकराचार्य अपने गुरु से बढ़कर ज्ञानी और महात्मा हो गये थे, इसलिए उनके गुरु ने अपने शिष्य का महत्व जानकर ही उन्हें शीघ्र काशी जाने का समयानुकूल आदेश दिया था।

स्वामी श्री. शंकराचार्य अपने गुरुदेव की आज्ञा का पालन करते हुए काशी जाकर अद्वैत सिद्धान्तों का प्रचार करने में तन-मन से लग गये। उनका वह काम उन दिनों की परिस्थिति में अत्यन्त कठिन और क्लेशपूर्ण था, क्योंकि तब काशी में कई बड़े-बड़े विद्वान और ज्ञानी महात्मा पुरुष विभिन्न प्रकार के सम्प्रदायों और मतों के 'कट्टर नेता' बने हुए थे और वे सब के सब मिल कर श्री. शंकराचार्य के नये दर्शन और सिद्धान्त के प्रचार को रोकने की कोशिश भी बराबर करते रहते थे। इसलिए श्री. शंकराचार्य को अपने आदर्शपूर्ण धर्म का प्रचार करने के लिए उन तमाम साम्प्रदायिक विद्वानों और नेताओं के साथ गंभीर वाद-विवाद करके उन्हें परास्त करना पड़ता था। उन सब को हराये बिना श्री. शंकराचार्य अपने श्रेष्ठ सिद्धान्तों को देश भर में कदापि नहीं फैला सकते थे। उस जमाने में भारत में शैव, वैष्णव, भागवत, पंचरात्र, वैखानस, अग्निपूजक, जैन, बौद्ध आदि कई मतों और सम्प्रदायों के लोग रहते थे जो आपस में अपनी श्रेष्ठता साबित करने के इरादे से बराबर झगड़ा करते रहते थे। वे लोग अनेकों अलग अलग देवी-देवताओं की आराधना पर ज़ोर देते थे। श्री. शंकराचार्य ने उन सब प्रकार के दलों के प्रमुख नेताओं को बड़ी आसानी से खूब वाद-विवाद करके तर्क में जीत लिया और उन्हें भी अपने अद्वैत-सिद्धान्त की समन्वयात्मक गरिमा समझाकर अपने ही अनुयायी बना लिया। आखिर वे सब के सब एक न एक प्रकार से श्री शंकराचार्य के शिष्य ही बन गये। इस प्रकार विभिन्न दलों और सम्प्रदायों के बीच में आध्यात्मिक एवं भाव-

नात्मक एकता पैदा करके श्री. शंकराचार्य ने उस समय जो राष्ट्र-सेवा की थी, वह सचमुच सराहनीय थी। जब आचार्य काशी नगर के अन्दर अपने आदर्श धर्म का पूरा प्रचार करने में सफल हुए तब उन की ख्याति समूचे हिन्दुस्तान में फैलने लगी। दूर-दूर के सैकड़ों लोग उनके पुण्य-दर्शन और सत्संग से लाभ उठाने के लिए काशी आने लगे।

काशी के चाण्डाल की परीक्षा :

एक दिन प्रातःकाल श्री. शंकराचार्य गंगास्नान करने के बाद अपने आश्रम की ओर लौट रहे थे, तो उन्होंने रास्ते में एक चाण्डाल को अपने तीन-चार कुत्तों के साथ सामने से आते हुए देखा। आचार्य ने उस अछूत चाण्डाल से देशाचार के अनुसार ज़रा दूर हट जाने का आग्रह किया। लेकिन उसने आचार्य की आज्ञा मानने से एक दम इनकार किया और उन से यों पूछा—"हे स्वामिन्, ज़रा यह बताइये कि आप किस को अपवित्र और अछूत मानते हैं? मेरे इस जड़ और नश्वर शरीर को अथवा अमर आत्मा को? आप किससे दूर हट जाने का आदेश देते हैं? ज़रा साफ़ साफ़ बता दीजिए। मैं आपकी बातें ठीक-ठीक नहीं समझ पाता। आप तो अद्वैत-वादी महात्मा हैं न? फिर छुआछूत का भेद-भाव आपके दिल में कैसे होता है?" एक नीच चाण्डाल के मुँह से ऐसी तर्क-भरी बातें सुन कर आचार्य को बड़ा अचम्भा हुआ। वे थोड़ी देर मन ही मन उसकी बातों पर विचार करने लगे। तब उन्हें अपनी भूल मालूम हो गयी। वे पछताते हुए उस चाण्डाल के पैरों पर गिर पड़े और क्षमा माँगी। लोगों का विश्वास है कि वह चाण्डाल स्वयं भगवान् शिवजी थे, जो श्री. शंकराचार्य के ज्ञान और आचरण की वहाँ प्रत्यक्ष परीक्षा लेने के इरादे से एक पतित अछूत के रूप में वहाँ आये थे। चाहे जो हो, इस घटना से एक बात ज़रूर मालूम हो जाती है कि एक हरिजन गुरु ने ही उन दिनों जगद्गुरु श्री. शंकराचार्य को अद्वैतवाद के व्यावहारिक आदर्श का सच्चा रहस्य और स्वरूप सिखा दिया था, जिस के बिना उनका महान वेदान्त-मत भी बिलकुल अधूरा और असफल रह जाता।

देशाटन और दिग्विजय :–

जब काशी के प्रायः सभी पण्डितों को ज्ञान-चर्चा और वाद-विवाद में हराकर अपने सैकड़ों अनुयायियों के साथ श्री. शंकराचार्य परिव्राजक की हैसियत से भ्रमण पर निकले, तो हर कहीं लोगों ने उनका स्वागत-सत्कार खूब किया। जहाँ कहीं वे पहुँचते, वहाँ के विद्वान और ज्ञानी लोग उनके साथ वाद-विवाद करने के लिए आगे बढ़ आते। उन सबको श्री. शंकराचार्य के सामने आखिर सिर झुकाना ही पड़ता। अपनी हार मानकर वे ज्ञानी महात्मा पुरुष अपने पूरे दल-बल के साथ श्री. शंकराचार्य के प्रबल समर्थक और पक्के साथी बन जाते। इस तरह अपनी ज्ञान-यात्रा में सब कहीं पिजयी और यशस्वी होते हुए श्री. शंकराचार्य एक दिन प्रयाग जा पहुँचे। उन दिनों प्रयाग में 'मण्डन मिश्र' और उनकी धर्म पत्नी 'भारती देवी' का बोल-बाला था। वे दोनों अपनी विद्वत्ता और तर्क-कुशलता से अपने राज्य के सभी लोगों पर अपना असाधारण प्रभाव डाला करते थे। इसलिए वहाँ आचार्य श्री. शंकर को भी उन दोनों से विवाद करना पड़ा। महीनों तक शास्त्रार्थ और वाद-विवाद चलता रहा। अन्त में श्री शंकराचार्य की जीत भी हो गयी। लेकिन कहा जाता है कि यद्यपि पण्डित 'मण्डन मिश्र' को परास्त करने में श्री शंकराचार्य को विशेष कोई कठिनाई नहीं हुई, तो भी उन की असाधारण विदुषी स्त्री भारती देवी को वाद-विवाद में शिकस्त देना निहायत 'टेढ़ी खीर' सा हो गया था। इसलिए उस देवी को हराने के लिए श्री. शंकराचार्य को 'परकाया-प्रवेश' नामक एक अलौकिक योग-सिद्धि का प्रयोग करके राजा 'अमरुक' के मृत शरीर में स्वयं दाखिल होना पड़ा था। कहा जाता है कि उस राजा के पद पर आचार्य कई दिनों तक विराजमान रहे और वहाँ का राजकाज सँभालने में भी अपनी असाधारण चातुरी प्रकट की। 'अमरुक' की रानियों के सहयोग में रह कर श्री. शंकराचार्य ने काम-शास्त्र का ज्ञान भी हासिल किया। इस तरह सन्यासी श्री. शंकर को लौकिक काम-कला का परिचय भी प्राप्त हो गया और वे 'सर्वकला-वल्लभ' बन गये। उसके बाद ही वे सच्चे अर्थ में 'सर्वज्ञ' कहलाने लगे। भारती देवी को काम-शास्त्र के रहस्यों के सहारे भी

जब श्री. शंकराचार्य ने पूरी तरह से वाद-विवाद में परास्त कर डाला तभी वे उन दोनों पति-पत्नियों को भी अपने नये धर्म में शामिल करा सके। यद्यपि श्री. शंकराचार्य की उस अपूर्व और आश्चर्यमय योग-सिद्धि के विषय में सन्देह और अविश्वास करनेवाले लोग ही आजकल अधिक होंगे तो भी यह बात सभी मान लेने को ज़रूर तैयार होंगे कि पुराने जमाने में भी भारत की स्त्रियाँ खूब पढ़ी-लिखी और सुशिक्षित थीं और पुरुषों के बराबर दार्शनिक और धार्मिक तर्क-वितर्कों में शरीक होने लायक प्रतिभा और दक्षता अवश्य रखती थीं। 'मण्डन मिश्र' की स्त्री 'भारती देवी' को इस का एक उज्ज्वल उदाहरण माना जा सकता है।

सन्यासीमठों की स्थापना :–

धीरे-धीरे श्री. शंकराचार्य के शिष्य और अनुचर भारत-भर में फैल गये, जिन में चार महान शिष्यों के नाम मुख्य माने जाते हैं। उन चारों में 'मण्डन मिश्र' भी एक अवश्य थे। नये वेदान्त-धर्म की दीक्षा लेकर 'मण्डन मिश्र' सन्यासी बन गये और आचार्य के सर्वप्रथम न होने पर भी 'सर्वप्रधान' शिष्य श्री सुरेश्वराचार्य के नाम से विख्यात हो गये। सर्वश्री 'पद्मपादाचार्य', 'तोटकाचार्य', और 'हस्तामलकाचार्य' ये तीनों सन्यासी भी अपने गुरुदेव श्री. शंकराचार्य के सत्संग में सर्वदा रहा करते थे। इन चारों महान शिष्य-रत्नों पर श्री. शंकर की विशेष प्रीति और कृपा थी। इन शिष्यों की गुरु-भक्ति. तपस्या, विद्वत्ता, त्याग, साहस, सहिष्णुता आदि गुणों को प्रमाणित करनेवाली कई आश्चर्यप्रद किंवदान्तियाँ और दन्त-कथाएँ भी जनता में प्रचलित हैं, जिन सब का उल्लेख करना इस संक्षिप्त लेख में अनावश्यक प्रतीत होता है। श्री. शंकराचार्य ने अपने इन महान शिष्यों की सहायता से भारत के चारों भागों में चार प्रमुख पीठों अथवा 'सन्यास-मठों' की स्थापना की थी, जो अब तक विद्यमान हैं। वे मठ 'बदरी', 'पुरी', 'द्वारका' और 'शृंगेरी' में हैं। इन मठों के अधीन और भी कई छोटे-मोटे मठ भी बने हुए हैं। सब मठों में वेदान्त और शास्त्रों का प्रशिक्षण देने का अच्छा प्रबन्ध रहता है। इन सभी मठों के अलग-अलग महान आचार्यों की परंपरा भी होती है। उन्हीं आचार्यों को अपने प्रदेश के लोगों के धार्मिक गुरु माना जाता है। कहा जाता

है कि श्री. शंकराचार्य अपने इन चारों श्रेष्ठ पीठों की स्थापना करने के बाद काश्मीर चले गये। वहाँ उन्होंने 'सर्वज्ञ पीठ' पर समासीन होने का अपूर्व सम्मान और सौभाग्य भी प्राप्त किया।

कापालिक से भेंट :–

एक बार किसी कापालिक की प्रार्थना पर श्री. शंकराचार्य "काली देवी' की भेंट चढ़ाने के लिए अपना सिर देने लगे, तब उन के चार मुख्य शिष्यों में श्री पद्मपादाचार्य ने अपने गुरुदेव की रक्षा करने के इरादे से उस नीच कापालिक का गला दबा कर उसे मार डाला था। इस तरह उस शिष्य ने हत्या का पाप करके भी अपने प्रिय गुरु की जान बचायी। लेकिन श्री. शंकर की आयु बहुत जल्दी खतम होने-वाली थी। वे सिर्फ़ 32 वर्षों की अल्पायु की जिन्दगी पूरी करके देह-मुक्त होना ही चाहते थे, इसलिए उन को अपने उस भक्त शिष्य के उस आचरण पर विशेष आनन्द नहीं हुआ।

मातृ-मृत्यु और अन्तिम संस्कार :–

वे अपने जन्म देश 'कालटि' की तरफ वहाँ से सीधे लौट आये; क्योंकि वहाँ उनकी माता मृत्यु-शय्या पर पड़ी हुई अपने प्रिय पुत्र की बाट जोह रही थीं। श्री. शंकराचार्य अपनी माता की सेवा और शुश्रूषा करने के लिए कुछ दिनों तक वहीं कालटि में अधिवास करते रहे और उस के बाद माता के निधन पर स्वयं सन्यासी होने पर भी गृहस्थों की तरह उन्होंने अपनी माता के शव का विधिपूर्वक दाह-संस्कार कर डाला। कहा जाता है कि उन की माता की लाश का आखिरी संस्कार करते समय केरल के कुछ ईर्ष्यालु एवं लकीर के फ़कीर नम्पूतिरी-ब्राह्मणों ने आचार्य की सहायता करने से साफ इनकार किया था, जिससे उन्होंने अपनी योग-शक्ति और दिव्यत्व के बल पर केले के कच्चे पौधों को काट-काट कर लकड़ी की जगह जलाने के काम में इस्तेमाल किया था। इस तरह उन्होंने ऐसी कठिन परिस्थिति में भी अपने उन विरोधियों के दांत

खट्टे कर दिए। उस समर्थ आचार्य श्री. शंकर ने मातृ-ऋण चुकाने की कठिनाई पर जो मार्मिक श्लोक लिखा था वह नीचे दिया जाता है :–

आस्तां तावदियं प्रसूतिसमये दुर्वारशूलव्यथा
नैरुच्यं तनुशोषणं मलमयी शय्या च सांवत्सरी
एकस्यापि न गर्भभारभरण क्लेशस्य यस्याक्षमो
दातुं निष्कृतिमुन्नतोपि तनयस्तस्यै जननैनमः"

माता के प्रति अपना अन्तिम कर्तव्य पूरा करके जब वे कुछ दिन केरल में भ्रमण करते रहे तब एक और विशेष घटना हुई।

एक दिन श्री. शंकराचार्य के अपार पाण्डित्य और असाधारण प्रतिभा की बड़ी प्रशंसा सुन कर केरल के किसी प्रमुख राजा साहब अपने किसी दूत को भेज कर उन्हें अपने दरबार में बुला लाने का प्रयत्न किया। लेकिन दूत की बातें सुन कर आचार्य उस राजा के यहाँ जाने को राज़ी न हुए। इस पर राजा बहुत ही अप्रसन्न हो उठे और श्री. शंकराचार्य को और भी प्रलो-भन देकर या डरा-धमका कर अपने यहाँ बुला ले जाने की कोशिश करने लगे। उन्होंने अपने मंत्री को सेना-सहित भेज कर श्री शंकराचार्य की खूब खातिरदारी करके पूरी राजकीय ठाट-बाट के साथ उन्हें अपने महल बुला लाने का आदेश दिया। लेकिन मंत्री की प्रार्थना पर भी श्री. शंकरा-चार्य टस से मस न हुए। उन्होंने मंत्री से इतना कहला भेजा कि तुम अपने राजा से जाकर मेरा यह निवेदन सुना दो कि वे अपने देश के ब्रह्मचारियों और सन्यासियों को किसी प्रकार का प्रलोभन दिखाकर मोहित करने या उन्हें धर्म-भ्रष्ट बनाने की चेष्टा न करें। आचार्य के आदेशानुसार मंत्री ने राजा के पास जाकर सारी बातें सुना दीं और स्वयं आचार्यदेव की बड़ी तारीफ़ की। आखिर राजा स्वयं श्री. शंकराचार्य की सेवा में पैदल चले आये और बड़ी विनम्रता से अपने राज-मद और गर्व के लिए उन से क्षमा माँगी। इस तरह श्री. शंकराचार्य ने अपनी निस्पृहता और निर्भयता के सफल शस्त्रों का प्रयोग करके उस राजा को विशेष रूप से विनयशील एवं

विवेकी बना डाला। फिर राजा कई दिन श्री. शंकर के अनुपम सत्संग और अद्वितीय उपदेशों से लाभ उठाने के बाद स्वयं अपने को परम धन्य मानते हुए राजधानी की तरफ़ लौट गय। श्री. आचार्य देव भी काशी की तरफ़ चले गये।

साधना और साहित्य-निर्माण :-

काशी आकर आचार्य ने अपना शेष जीवन तीर्थाटन, ब्रह्म-चिन्तन, तपस्या, योग-साधना और ध्यान में ही बिताने का निश्चय किया। अपने सभी श्रेष्ठ ग्रन्थों का निर्माण उन्होंने काशी में रहते समय किया था। यह सच है कि उन की रची ऐसी कई छोटी छोटी स्तुतियाँ और श्लोक मिलते हैं जिन की रचना उन्होंने अन्यान्य तीर्थों और मन्दिरों का सन्दर्शन करते समय ही की होगी। श्री. शंकराचार्य की प्रमुख रचनाएँ विषय की विविधता की दृष्टि से चार प्रकार की मानी जा सकती हैं। गीता, उपनिषद् आदि प्राचीन ग्रन्थों के भाष्य, मौलिक रचनाएँ, स्तोत्र और मन्त्र-शास्त्र। इन्हीं चार प्रकार के विषयों के अन्तर्गत आचार्यदेव की समस्त रचनाएँ आ सकती हैं। उन्होंने 'ब्रह्मसूत्र-भाष्य', दसों उपनिषदों के भाष्य, गीता का भाष्य, विष्णुसहस्रनाम का भाष्य, सनत्सुजातीय-भाष्य, हस्तामलकीय-भाष्य और ललिता-त्रिशती-भाष्य ये सात उत्कृष्ट भाष्य-ग्रन्थ रचे हैं। उन की मुख्य वेदान्त विषयक मौलिक, रचनाएँ 'विवेक चूड़ामणि', 'आत्मबोध', 'उपदेश साहस्री', 'अपरोक्षानुभूति' आदि हैं जिन की संख्या 33 के करीब हैं। शिवानन्द लहरी, सौन्दर्य लहरी आदि उन के रचे स्तोत्र-ग्रन्थों की संख्या लगभग 70 है। मन्त्र-शास्त्र पर उन का एक ही ग्रन्थ अब मिलता है, जिस का नाम 'सर्वमन्त्र शास्त्र चूडामणि' है। इस तरह श्री. शंकराचार्य के रचे काव्य और ग्रन्थ अनेक एवं अद्वितीय हैं, जिन का संक्षिप्त परिचय देना भी यहाँ संभव नहीं है। वास्तव में, श्री. शंकराचार्य ने अपनी 32 वर्ष की अल्पायु के अन्दर इतने अधिक महान कार्य किये हैं, ग्रन्थों का निर्माण किया है और विश्व-व्यापक विख्याति प्राप्त की है, जिन सब का वर्णन करना किसी साधारण लेखक की शक्ति के बाहर की बात है।

महा समाधि :–

जिस प्रकार श्री. शकराचार्य के जन्म के बारे में सैकड़ों सन्देह-भरी एवं आश्चर्यप्रद कहानियाँ प्रचलित हैं, उसी तरह उन की महा-समाधि के सम्बन्ध में भी अनेकों अनिश्चित एवं अविश्वसनीय बातें फैली हुई हैं। कई विद्वान् इतिहासज्ञों का मत है कि श्री. शंकराचार्य का देहान्त सन् 820 में हुआ था। वे कैसे और कहाँ पर अपना शरीर छोड कर अमर बने, यह किसी को टीक से मालूम नहीं हैं। कुछ लोगों की राय है कि उन्होंने हिमालय की महोन्नत चोटी कैलास-गिरि में रहते समय अपना शरीर छोड़ा था, तो अन्य कुछ लोगों का विश्वास है कि वे 'वृषाद्रि' में पहुँच कर महा-समाधि में लीन हो गये। केरल के कई लोगों का मत है कि उन का शरीर-त्याग 'तृश्शिवपेरूर' अथवा 'तृश्शूर' के शिव-मन्दिर के अन्दर हुआ था। वहाँ इस समय जो 'शंख-चक्रांकित वेदिका' बनी हुई है, उसी स्थान को आचार्यदेव की समाधि मान कर लोग पूजते आ रहे हैं। चाहे जो हो, यह सभी लोग मानते हैं कि श्री. शंकराचार्य केवल 32 साल तक ही इस संसार में सशरीर जिन्दा रहे थे और अपनी इस अल्पायु में उन्होंने सचमुच चिरायु और अमरत्व प्राप्त किया था।

जगत् को जगद्‌गुरुकी देन :–

श्री. शंकराचार्य ने अपने आचरणों और सिद्धान्तों द्वारा अखण्ड भारत का निर्माण किया था, जिसका आधार वेदान्त अथवा अद्वैत-धर्म था। धार्मिक और सांस्कृतिक धरातल पर भारत की भावात्मक एकता को परिपुष्ट करने के महान कार्य में श्री. शंकराचार्य को परिपूर्ण सफलता प्राप्त हुई थी। उन्होंने अपने समय में प्रचलित तमाम दुराचारों और अन्ध विश्वासों के विरुद्ध आवाज उठायी और सभी सम्प्रदायों को मिला कर अद्वैत-धर्म के अन्दर लाने की कोशिश की। किसी श्रेष्ठ और प्राचीन सम्प्रदाय का सर्वनाश करना उन का कदापि इरादा नहीं था; इसलिए उन्होंने सब सम्प्रदायों का सुधार करके उन्हें आदर्शोन्मुख बना लिया। श्री. शंकराचार्य ने अपनी धार्मिक सहिष्णुता और समझदारी का परिचय

भिन्न-भिन्न देवी-देवताओं की स्तुति करके प्रदान किया है। उन्होंने अपने तपस्यामय आदर्श जीवन के द्वारा संसार को यह समझा दिया है कि वास्तव में प्रत्येक मनुष्य मात्र नहीं, बल्कि हरेक जीव अमर है। उस की अनादि और अनन्त आत्मा का नाश कदापि नहीं हो सकता है। वह किसी का गुलाम नहीं है। वह सच्चिदानन्द स्वरूप है। संसार के सभी सुख और दु:ख मन के विकार मात्र हैं। मानसिक मायाजाल में फँसी आत्मा को अपने सत्य का प्रकाश दृश्यमान नहीं होता है। इसलिए माया के बंधन या आवरण से मुक्त होने के लिए आत्म-ज्ञान का अनुभव प्राप्त होना आवश्यक है। जब सच्चा आत्म-ज्ञान उपलब्ध होता है तब प्रत्येक जीव को इस का पता लगता है कि अपने सभी सुख-दु:खों का कारण स्वयं वही है। आत्मानुभूति प्राप्त होते ही मनुष्य स्वयं यह मानने लगता है कि वह वास्तव में समस्त संसार का स्वामी और नेता ही है और उसही की आत्म-शक्ति अनादि और अनन्त है। इस प्रकार के अद्वितीय एवं क्रान्तिपूर्ण आत्म-ज्ञान से भरे अमर सन्देशों द्वारा श्री. शंकराचार्य ने मानव की अज्ञता और कमज़ोरी दूर कर उसे साहसी, सुखी और समर्थ बनाया है। उसे जड़ता और निराशा के अन्ध कूप से निकाल कर नित्यानन्द के सुगम और सुखद कर्ममार्ग से अग्रसर होने की प्रेरणा प्रदान की है। श्री. शंकराचार्य ने साधारण से साधारण मूर्ख मनुष्य तक को भी आत्म-विश्वास और ईश्वर-विश्वास का महत्व और मर्म बता दिया है और उस को यह भी समझा दिया है कि वह नश्वर जीव मात्र नहीं है, बल्कि अनन्त और अमर आत्मा है, जो स्वयं ईश्वर अथवा परमात्मा ही है। इस प्रकार 'क्षुद्र मनुष्य' और 'महान, ईश्वर'—दोनों का भेद मिटा कर मानव की 'परिमित शक्ति' को परमात्मा की 'अपरिमित विभूति' के समान बढ़ा देने में आचार्य श्री. शंकर के 'अद्वैत-वाद' को असाधारण सफलता अवश्य प्राप्त हुई है।

श्री. शंकराचार्य के अद्वैत-धर्म के अनुसार केवल 'ब्रह्म' मात्र ही सत्य और नित्य है। उसी ब्रह्म से इस विराट विश्व के सृष्टि-स्थिति-संहार-रूपी सभी चमत्कार ज़ाहिर होते हैं। ब्रह्म की व्याख्या कई सुन्दर और सार्थक शब्दों द्वारा की जाती है, जिन में परमात्मा, ईश्वर, सत्, चित् आनन्द, अजर, अमर, अनन्त, अज्ञेय, अवाच्य, नित्य, नेति आदि मुख्य हैं।

वेद-शास्त्रों की उत्पत्ति उसी ब्रह्म से मानी जाती है। इसलिए उनको 'ब्रह्म-प्रमाण' मानकर संपूज्य भाव से स्वीकार किया जाता है। ब्रह्म को स्वयं ज्ञान-स्वरूपी भी कहा जाता है। इसलिए ब्रह्म मात्र को ठीक-ठीक जान लेने से संपूर्ण दृश्य और अदृश्य ज्ञान आप ही आप प्राप्त होने लगता है। प्रत्येक जीव का परम कर्तव्य उस ब्रह्म का साक्षात्कार सर्वत्र करना है। उसके लिए प्रत्येक जीवत्मा को स्वयं परमात्मा के समान अविकारी आनन्दमय, सर्वज्ञ एवं मुक्त बन जाना जरूरी है। इस उच्चतम अवस्था को मोक्ष कहते हैं। मोक्ष-प्राप्ति के लिए मनुष्य को अपने सहज अज्ञान, अहंकार, भेद-भाव, परतन्त्रता, विकार, विद्वेष आदि दोषों से पूर्ण रूप से बचना आवश्यक है। त्याग और तपस्या के विना वह कभी संभव नहीं है। इसलिए श्री. शंकराचार्य ने संपूर्ण त्यागमय जीवन-चर्या को हीं परम श्रेष्ठ धर्म बताया है। अपने इस धर्म का समर्थन करने के इरादे से उन्होंने वेदान्त के प्रमुख प्रामाणिक ग्रन्थों की महिमा जानकर उन पर स्वयं अपने ढंग के मौलिक भाष्य रचे थे। इस तरह गीता, उपनिषद् वेदान्त-सूत्र आदि प्राचीन ग्रन्थों का नवीन रूप और भाव अपने ढंग से प्रस्तुत करने में श्री. शंकराचार्य का प्रयत्न सर्वथा सराहनीय है। वास्तव में व्यक्ति-धर्म के चरम विकास का सुन्दर और उज्ज्वल रूप हमको श्री. शंकराचार्य के अद्वैत-सिद्धान्त में मिलता है, जिसका महत्व संसार के समस्त धर्म, सम्प्रदाय और जाति के लोगों को, इस वर्तमान वैज्ञानिक युग में भी, जरूर मानना पड़ता है।

श्री. शकराचार्य की काव्य-गरि

संस्कृत-भाषा के सर्व श्रेष्ठ कवि कालिदास के समान श्री. शंकराचार्य भी एक महान सरस कवि के रूप में भी पूजे जा रहे हैं। कविवर, कालिदास का काव्य-क्षेत्र यद्यपि श्री. शंकराचार्य के क्षेत्र से भिन्न था, तो भी श्री. शंकर की कविताएँ उनकी बराबरी करने लायक सरल और सरस हुई हैं। यह सच है कि आचार्य का रचना-क्षेत्र मनोरंजनात्मक एवं सुन्दर विहार-वाटिका होने के बदले निगूढ़ ज्ञान और जटिल दर्शन का गंभीर विवाद-क्षेत्र बना हुआ है, जहाँ साधारण लोगों की पहुँच सहज नहीं है।

इसलिए आचार्य के कलात्मक महत्व और कवित्व की प्रखर ज्योति की ओर अपनी कमज़ोर आँखें फेरने की क्षमता बहुत कम लोगों में पायी जाती है। चूंकि श्री. शंकराचार्य प्रधानतः एक महान ऋषि या श्रेष्ठ सन्त के रूप में जनता के हृदय में श्रद्धेय स्थान प्राप्त कर चुके हैं, इसलिए कदाचित् एक साधारण कवि की तरह उनको लौकिक सीमा के भीतर लाने का साहस कोई नहीं करता होगा। संभव है कि इसी कारण से वे एक कवि की अपेक्षा सिद्ध, ज्ञानी, योगी, तत्ववेत्ता, जगद्‌गुरु, आदि नामों से अधिक पहचाने जाते हों ; फिर भी, तटस्थ एवं विवेकपूर्ण अध्ययन से हमें यह अवश्य मानना ही पड़ेगा कि श्री. शंकराचार्य जहाँ बड़े सन्त और अद्वितीय ज्ञानी हैं, वहाँ कवि भी अच्छे हैं। उनकी 'शिवानन्द लहरी' 'सौन्दर्य-लहरी' 'विवेक चूडामणि' इत्यादि रचनाएँ इसके लिए उज्ज्वल प्रमाण हैं।

आचार्य शंकर के भक्त दार्शनिक एवं कवि-रूप के महान व्यक्तित्व का प्रकाश 'शिवानन्दलहरी' से लिये निम्न लिखित पाँच श्लोकों से उपलब्ध हो सकता है।

वे विश्व-रचना और विश्व रक्षा का मर्म 'शिवानन्दलहरी' में एक जगह इस प्रकार समझा देते हैं--

"क्रीडार्थं सृजसि प्रपंचमखिलं क्रीडामृगास्तेजनाः
यत्कर्माचरित मया च भवतः प्रीत्यै भवत्येव तत्।
शंभो स्वस्य कुतूहलस्य करणं मच्चेष्टितं निश्चितं
तस्मान्मामक रक्षणं पशुपते कर्तव्यमेव त्वया ॥"

अन्यत्र वे विश्व के प्राणी मात्र की अथवा मनुष्य मात्र की मूर्खता का वर्णन करते हुए यों बताते हैं—

"नित्यं स्वोदर पोषणाय सकलानुद्दिश्य वित्ताशया
व्यर्थं पर्यटनं करोमि भवतस्सेवां न जाने विभो।
मज्जन्मान्तर-पुण्यपाक-बलत-स्त्वं शर्व सर्वान्तर-
स्तिष्ठस्येव हि तेन वा पशुपते ते रक्षणीयोऽस्म्यहम् ॥"

इतना ही नहीं, अपने चंचल मन का बुरा हाल समझाते हुए भगवान् शिवजी से पुनः यों प्रार्थना करते हैं—

"सदा मोहाटव्यां चरति युवतीनां कुच गिरौ
नटत्याशाशाखास्वटति झटिति स्वैरमभितः ।
कपालिन् भिक्षो मे हृदयकपिमत्यन्त चपलं
दृढं भक्त्या बद्ध्वा शिव भवदधीनं कुरु विभो ।"

और

"मा गच्छ त्वमितस्ततो गिरिश भो मय्येव वासं कुरु
स्वामिन्नादि किरात मामकमनः कान्तारसीमान्तरे ।
वर्तन्ते बहुशो मृगा मदजुषो मात्सर्यमोहादय-
-स्तान् हत्वा मृगया-विनोद रुचितालाभं च संप्राप्स्यसि ।"

इसी प्रकार वे अपने कर्म और लक्ष्य का परिचय भी बड़ी मार्मिकता से देते हैं कि—

"त्वत्पादांबुजमर्चयामि परमं त्वां चिन्तयाम्यन्वहं
त्वामीशं शरणं व्रजामि वचसा त्वामेव याचे विभो
वीक्षां मे दिश चाक्षुषीं सकरुणां दिव्यैश्चिरं प्रार्थितां
शंभो लोकगुरो मदीय मनसस्सौख्योपदेशं कुरु ।"

इन श्लोकों से इसका पता लगता है कि श्री. शंकर कितने बड़े दार्शनिक भक्त एवं कवि रहे थे और उनका महान व्यक्तित्व कितना पूजनीय रहा था ।

आखिर 'शिवानन्दलहरी' के ही अन्त में अपनी "कविता-कन्यका" के विशिष्ट गुणों पर प्रकाश डालते हुए वे स्वयं यों गाते हैं :—

"सर्वालंकारयुक्तां सरलपदयुतां साधुवृत्तां सुवर्णां
सद्भिस्संस्तूयमानां सरसगुणयुतां लक्षितां लक्षणाढ्याम् ।

उद्यद्भूषा विशेषा-मुपगतविनयां द्योतमानार्थरेखां
कल्याणीं देव गौरी-प्रिय मम कविता-कन्यकां त्वं गृहाण "

उपसंहार :–

अत: इस में कोई सन्देह नहीं है कि श्री. शंकराचार्य के काव्यों की सरस-मधुर भाषा, प्रौढ-गंभीर विचार, हृदयस्पर्शी मार्मिक भाव आदि सच्चे सहृदय-पाठकों के दिल और दिमाग को सर्वथा अनिर्वचनीय आनन्द और सनातन सत्प्रेरणा प्रदान किये बिना नहीं रहेंगे। इसलिए उन की समस्त रचनाएँ श्रेष्ठ और आदर्श काव्यों के रूप में भी महत्वपूर्ण मानी जा सकती हैं। लेकिन किसी साधारण भावुक रसिक एवं नश्वर कवि की अपेक्षा श्री. शंकराचार्य का नाम इस संसार में चिरस्मरणीय रहेगा, क्योंकि उन्होंने दूसरे कई लौकिक कवियों की तरह झूठी कल्पना के रंगीन स्वप्न चित्रित करने के बदले कर्म और ज्ञान की सच्ची एवं शाश्वत ज्योति जगाने का महान् कार्य ही किया है जिस के पवित्र आलोक में सारे मानव-समाज को अक्षय शक्ति असीम शान्ति और अभीप्सित अमरत्व प्राप्त होने की संभावना रहती है। वास्तव में, अपने दिव्य कर्मों व सिद्धान्तों के सनातन सत्य का सुन्दर स्वरूप ही श्री. शंकराचार्य की ज़िन्दगी और कविता में सर्वत्र नज़र आता है। इस में कोई सन्देह नहीं है कि ऐसे महान आचार्य को पाकर केरल और भारत ही नहीं, बल्कि सारा संसार अपने को धन्य मान सकता है।

लेखक : एन. वेंकटेश्वरन

मेल्पत्तूर नारायण भट्टतिरि

विशाल भारत के दक्षिण-पश्चिम कोने में स्थित एक छोटा-सा राज्य है केरल। पौराणिक कथा के अनुसार यह भार्गव भूमि कहलाती है—कहा जाता है कि क्षत्रियों की हत्या से पैदा हुए पाप से बचने महर्षि परशु-राम ने गोकर्ण नामक स्थान पर खडे होकर अपना फरसा दक्षिण सागर को लक्ष्य करके फेंका और उसके गिरते ही केरल भूमि निकल आयी। अपनी प्राकृतिक सुषमाओं से यह राज्य दक्षिण का काश्मीर कहलाता है—एक तरफ़ हरिताभ शैलमालाओं से तथा दूसरी तरफ़ गरजती सागर-लहरों से परिचुंबित यह भूमि अत्यंत नयनाभिराम है।

इस देश की पावन मिट्टी का कुछ ऐसा वर-प्रसाद् रहा कि केरल का अतीत गौरवान्वित रहा और यहाँ बड़े-बड़े मनीषी दार्शनिक एवं प्रतिभावान कवि पैदा हुए हैं। उनमें केरल के जगद्गुरु श्री शंकराचार्य ने अद्वैत सम्प्रदाय का समर्थन किया। उन महात्मा संत के बाद अपने अतुलनीय पांडित्य एवं अनमोल रचनाओं से प्रशस्ति प्राप्त एक महान् संत तथा दार्श-निक कवि श्री मेल्पत्तूर नारायण भट्टतिरि ही थे।

जन्म :—

श्री मेल्पत्तूर नारायण भट्टतिरि का जन्म सन् 1559 में हुआ माना जाता है। दक्षिण मलबार के इटक्कुलम रेल्वे स्टेशन से करीब दो कोस

दूरी पर उत्तर-पूर्व दिशा में तीन मन्दिर स्थित हैं। इनमें सबसे उन्नत स्थान पर स्थित एक मंदिर है चन्दनक्काव। यह चन्दनक्काव केरल के प्राचीन मंदिर तिरुनावाय के पास है। चन्दनक्काव के पास एक जीर्ण-शीर्ण पुराना भवन स्थित है—इस भवन का नाम है मेल्पत्तूर। यहाँ श्री भट्टतिरि का जन्म हुआ। ऐतिहासिकों का कथन है कि भट्टतिरि के बाद इस घराने का कोई वारिस न रहा, ऐसी दशा में उसकी सारी जायदाद मरयंचेरी नपूतिरी को प्राप्त हुई। इस समय तो यह जायदाद एक मुसलिम कुंटुब के अधीन है। अपने जन्म गेह के संबंध में श्री भट्टतिरि का कथन ही दृष्टांत के रूप में यहाँ दिया जाता है।

"भूखंडे केरलाख्ये सरितमिह निलामुत्तरेणैवनावा
क्षेत्राद् गव्यूतिमात्रे पुनरुपरिनवग्रामनाम्नि स्वधाम्नि
धर्मिष्ठाद् भट्टतंत्राद्यखिल मतपटोर्मातृ दत्त द्विजेन्द्रा-
ज्जातो नारायणाख्यो निरवहृदतुलां देवनारायणाज्ञाम्"

उक्त श्लोक से यह विदित है कि केरल की प्रसिद्ध नदी निला के किनारे तिरुनावाय मन्दिर से करीब तीन मील दूर पर मेल्पत्तूर नामक भवन में भट्टतिरि का जन्म हुआ और इनके पिता का नाम मातृदत्त था। भट्टतिरि की माता व अन्य संबन्धियों के बारे में कहीं कोई उल्लेख मिलता नहीं है।

शिक्षा :—

श्री नारायण भट्टतिरि की शिक्षा-दीक्षा के संबंध में भी विस्तृत विवरण हमें प्राप्त नहीं। इनके गुरुओं के रूप में चार व्यक्तियों के नाम मिलते हैं। वे मातृदत्त, माधव, दामोदर और अच्युत हैं। इन गुरुओं से इन्होंने वेद–वेदांग, व्याकरण आदि शास्त्रों का अध्ययन किया। कुछ लोगों का कथन है कि श्री भट्टतिरि एक सौ छः बरस तक जीवित रहे। "प्रक्रिया सर्वस्व" नामक ग्रंथ के अंत में श्री भट्टतिरि ने अपने गुरुओं का उल्लेख किया है।

"मीमांसादि स्वतातान्निगममविकलं माधवाचार्यवर्या
त्तर्कं दामोदरार्यादपि पद पदवीमच्युताद् बुधेन्द्रात्"

उक्त श्लोक से सिद्ध है कि मेल्पत्तूर ने मीमांसा आदि शास्त्रों का अध्ययन अपने पिता के पास, वेदों का अध्ययन माधवार्य के पास, दर्शन-शास्त्र का अध्ययन दामोदर के पास और व्याकरण शास्त्र का अध्ययन श्री अच्युत पिषारटी के पास किया है।

जैसे हिन्दी के श्रेष्ठ कवि तुलसी के विषय में बहुत सी कथाएँ प्रचलित हैं, वैसे श्री भट्टतिरि के विषय में भी कई कथाएँ प्रचलित हैं। पत्नी रत्नावली का उपदेश सुनने पर तुलसीदास में विरक्ति भाव पैदा हुआ और वे काशी चले गये और बाद में बड़ी साधना के बाद उन्होंने 'राम-चरित मानस' की रचना की। इसी प्रकार यह कहा जाता है कि श्री भट्टतिरि को बचपन में शिक्षा प्राप्त करने का अवसर नहीं मिला और जवानी में कदम रखते ही वे एक प्रकार से लंपट बन गये थे। इनका विवाह ब्राह्मणकुल के बाहर की जाति में तृक्कण्डियूर अच्युत पिषारटी के यहाँ हुआ था। श्री अच्युत पिषारटी व्याकरण के बड़े विद्वान थे। ब्रह्म-मुहूर्त में उठकर अपने छात्रों को पढ़ाते थे। श्री भट्टतिरि सुबह सात-आठ बजे तक पड़े-पड़े सोते थे और जागने के बाद श्री पिषारटी और छात्रों के बीच से होकर बाहर निकल जाते थे। भट्टतिरि का यह बिगड़ा हुआ दैनिक कार्यक्रम श्री पिषारटी को बिलकुल अच्छा न लगा। एक दिन उन्होंने मेल्पत्तूर नंपूतिरी को बुलाकर डाँटा कि नंपूतिरी का यह कामुकता-पूर्ण जीवन उन्हें बिलकुल पसंद नहीं और यह भी कहा कि उनकी यह आसक्ति भगवान के प्रति होती तो कितना अच्छा होता। यह सुनने पर श्री भट्टतिरि का मानसिक आवरण—वासना का पर्त—मानो हट गया और उन्होंने श्री पिषारटी के चरणों पर गिरकर क्षमा मांगी और कहा कि वे उनका अपराध क्षमा करें तथा शिष्य बनाकर वेद आदि शास्त्रों का अध्यपन करावें। यह भी कहा कि वे अन्य किसी को गुरु बनाने के लिए भी तैयार नहीं हैं।

उन दिनों वेदों का पठन-पाठन केवल ब्राह्मण लोग ही करते थे। पिषारटी ब्राह्मण न थे, इस कारण वेद पढाने से उन्होंने इनकार किया। परन्तु श्री भट्टतिरि के ज़िद पकड़ने पर उन्होंने उनको वेद भी पढ़ाया। कहा जाता है कि उस समय के धार्मिक आचारों के विरुद्ध उन्हें वेद पढ़ाने से श्री पिषारटी वात-रोगी बन गये। उनका वह क्लेश श्री भट्टतिरि से देखा न गया तो उन्होंने गुरु दक्षिणा के रूप में गुरु का वात-रोग स्वयं ले लिया। इस तरह वे अपने गुरु की बीमारी दूर कर सके। अपने वात-रोग से मुक्ति पाने के लिए वे गुरुवायूर मंदिर में जाकर भगवान श्री कृष्ण के भजन में लग गये। श्री भट्टतिरि अपने समय के संस्कृत के पंडितों में अग्रणी थे, इस कारण उनमें अहंता का भाव भी काफ़ी मात्रा में आ गया था।

मलयालम वाङ्मय के पिता श्री तुंचत् रामानुजन एषुत्तच्छन श्री मेल्पत्तूर भट्टतिरि के समकालीन माने जाते हैं। कहा जाता है कि एक बार श्री भट्टतिरि ने वातरोग से बचने के लिए श्री एषुत्तच्छन से भी उपाय पूछा था। श्री एषुत्तच्छन ने मजाक के तौर पर कह दिया कि श्री भट्टतिरि मछली के साथ भोजन कर लें। केरल के ब्राह्मण मछली खाने वाले नहीं होते। इस उपालंभ का प्रत्युत्तर दूसरे रूप में देने का विचार श्री भट्टतिरि ने किया। अतः कहते हैं कि श्री भट्टतिरि के गुरुवायूर जाने और 'मत्स्यावतार' से लेकर पूरा भागवत् 'नारायणीयम' के नाम से एक भक्ति-काव्य के रूप में लिखने के मूल में श्री एषुत्तच्छन का उपालंभ भी एक कारण रहा है।

नारायणीयम :—

श्री भट्टतिरि के व्यक्तित्व और कृतित्व का वर्णन सीमित स्थली में संभव नहीं। उनका काव्य-शिल्प उतना महत्वपूर्ण और विस्तृत है। कहा जाता है कि 'नारायणीयम' की रचना भट्टतिरि ने 27 वीं उम्र में की। गुरुवायूर मंदिर में भजन करते हुए वातरोग से बचने के लिए इस काव्य की सर्जना शुरू की। श्री कृष्ण कथापरक इस प्रकार का उदात्त

एवं श्रुति मधुर महाकाव्य संस्कृत में अथवा भारतीय भाषाओं में शायद ही दूसरा मिलेगा। भक्त कवि जयदेव रचित 'गीत गोविंद' ही थोड़ी बहुत इसकी बराबरी भक्ति के क्षेत्र में कर सकता है। 'नारायणीयम' में भागवत की कथा, विशेष रूप से दशम स्कंध की कथा, दस-दस पद्यों में कुल सौ सर्गों में वर्णित है। चूंकि श्री एषुत्तच्छन ने मछली खाने की ओर इशारा किया था, इस कारण भगवान विष्णु के मत्स्यावतार से लेकर दशावतारों का वर्णन इस ग्रंथ में किया गया। यह भी कहा जाता है कि इस काव्य के पूर्ण होते-होते श्री भट्टतिरि वातरोग से विमुक्त हुए।

श्री एषुत्तच्छन के समान 'सन्तानगोपालम' 'ज्ञानपाना' और 'श्री कृष्णकर्णामृतम्' के रचयिता श्री पून्तानम नंपूतिरि भी श्री भट्टतिरि के समानधर्मी कवि थे और ऐतिह्यकारों ने इन दोनों के पारम्परिक परिचय का भी उल्लेख किया है। कहा जा चुका है कि श्री भट्टतिरि बड़े अहंमन्य व्यक्ति थे। अत: वे संस्कृत रचनाओं को छोड़कर अन्य रचनाओं को और रचनाकारों को घृणा की दृष्टि से देखा करते थे।

श्री पून्तानम और श्री भट्टतिरि के परिचय संबन्धी घटना इस प्रकार उल्लिखित है। एक बार श्री पूंतानम नंपूतिरी अपनी भाषा कृति 'श्रीकृष्णकर्णामृतम्' पंडित शिरोमणि मेल्पत्तूर भट्टतिरि को दिखाने ले गये। तब श्री भट्टतिरि ने भाषाकृति की अवहेलना करते हुए कहा—"मेरे पास समय नहीं है।" इस अपमान से दु:खी होकर पूंतानम गुरुवायूर मंदिर के बाहर जाकर बरामदा में लेट गये। उन दिनों में वातरोग से मोचन पाने श्री भट्टतिरि भी गुरुवायूर मंदिर में भगवान के गुण कीर्तन में तथा 'नारायणीयम' काव्य की रचना में मग्न थे।

गुरुवायूर मन्दिर तृचूर से उत्तर-पश्चिम दिशा में करीब अठाईस मील दूरी पर स्थित केरल का एक प्राचीन मंदिर है। यहाँ हर दिन भक्तों की बड़ी भारी भीड रहती है। गांधी जी के स्वराज्य आंदोलन के समय एवं हरिजनों के मन्दिर प्रवेश के समय इस मंदिर की प्रशस्ति समूचे भारत में हुई और इस मंदिर में हरिजनों को प्रवेश देने के लिए केरल के

गांधीवादी सर्वोदय नेता श्री केलपन जी को कई दिनों तक उपवास करना पड़ा था। उसी मन्दिर में भट्टतिरि नारायणीयम् की रचना में उन रात लगे हुए थे। उस रात को श्री भट्टतिरि का वातरोग अचानक बढ़ गया और वे अत्यन्त व्याकुल हुए–उनको ऐसा लगा मानों मोरपंख धारी मेघ-श्याम वर्ण, सुवर्ण किंकिणियों से अलंकृत, कटि में मंजुल-मनोहर पीतांबर-धारी, मुरलीधारी एक बालक समक्ष प्रकट हुआ और यों बोला :—"मेल्पत्तूर ! मैं तुम्हारी विभक्ति को अपेक्षा पूंतानम की भक्ति को ही पसंद करता हूँ। उस बेचारे ब्राह्मण का दुःख मिटाओ और उससे क्षमा मांगो। इसके अतिरिक्त तुम्हारी रोग-विमुक्ति की कोई औषधि नहीं है।" उसके अनुसार भट्टतिरि को करना पड़ा था। मेल्पत्तूर ने भगवान को अपने सामने प्रत्यक्ष देखकर जो श्लोक लिखा है वह बहुत ही रुचिर है :—

"अग्रे पश्यामि तेजो निबिडतरकलाभावलीलोभनीयं
पीयूषाप्लावितोहं तदनुतदुदरे दिव्य कैशोरवेषम्
तारुण्यारंभ रम्यं परमसुखरसास्वाद्रोमांचितांगै-
रावीतं नारदार्दैर्विलसदुपनिषद् सुंदरी मंडलैश्च।"

जहाँ शारीरिक पीड़ा ने मेल्पत्तूर को भक्त बनाया वहाँ पारिवारिक यातनाओं ने श्री पूंतानम को भगवान कृष्ण के चरणों तक पहुँचाया। मलयालम साहित्य में 'नारायणीयम' के समान पूंतानम रचिम 'ज्ञानपाना' का भी विशेष आदर है। 'नारायणीयम' की रचना में श्री भट्टतिरि की बहुमुखी प्रतिभा ने खूब निखार पायी है। भागवत में प्रतिपादित समस्त विषयों का संक्षिप्त वर्णन इस काव्य में मिलता है, यही इसकी खूबी है। भागवत की घटनाओं की आत्मा को ही इन्होंने स्वीकारा है और रुचिर काव्य-शिल्प इनका अपना अलग ही रहा है। प्रस्तुतीकरण में शृंगार, वीर आदि रसों का पुट इस तरह मिलाया है, मानों सोने में सुहागा मिला दिया हो।

हमारे शास्त्रकारों ने ईश्वर को तृप्त करने के अनेक उपाय बताये हैं। उनमें सबसे विशिष्ट भक्ति मानी जाती है। 'हम भक्तन के

भक्त हमारे', यही भगवान का नियम है। साधारण से साधारण मनुष्य भी भक्ति का पथ ग्रहण कर सकता है। कविवर तुलसीदास ने भी केवट की भक्ति द्वारा उसकी सर्व ग्राहकता का वर्णन किया है। कर्मयोग आसानी से फल देने वाला नहीं। ज्ञानयोग बहुत ही दुर्गम है। ऐसी दशा में भक्तियोग ही सुगम है। श्री भट्टतिरि ने निम्न पद्य में इसी भक्ति-योग का सुंदरतम वर्णन किया है :—

"सोयं कृष्णावतारो जयति तव विभो यत्र सौहार्दभीति-
स्नेह द्वेषानुराग प्रभृतिभिरतुलैर श्रमैर्योगभेदैः
आर्तितीर्त्वा समस्तामममृतपद्मगुस्सर्वत स्सर्वलोक-
स्सत्वं विश्वार्तिशान्त्यै पवन पुरपते भक्ति पूर्तै चमूयाः"

गहन से गहन विषय का वर्णन भी श्री भट्टतिरि ने कोमलकांत पदावली के द्वारा किया है। रसों के अनुसार यह शब्द ग्रहण चातुरी अन्यत्र दुर्लभ है। कालियनाग के फनों पर तालमेल के साथ नाचने वाले बालकृष्ण का भव्य वर्णन अत्यंत आलोचनामृत है :—

"अथदिक्षु विदिक्षु परिक्षुभित-
भ्रमितोदरवारि निनाद भरैः
उदकादुदगादुरगाधिपति-
स्त्व दुपान्त मशान्त रुषांधमनाः"
"अधिरुत्यततः फणिराज फणान
ननृते भवतामृदु पाद्रुचा
कल शिंजित नूपुरमंजुमिलत्
कर कंकण संकुल संक्वणितम्"

इस प्रकार 'नारायणीयम' के बारे में बहुत कुछ लिखा जा सकता है। श्री भट्टतिरि के अन्य ग्रंथों की चर्चा कोई न करे तो भी इस एक मात्र ग्रंथ के द्वारा कवि का यश अमर हो चुका है और इसी ने श्री

भट्टतिरि को केरल के महान भक्त की श्रेणी में अग्रिम स्थान पर बिठाया है। केरल का यह सौभाग्य है कि श्री भट्टतिरि की अन्य रचनाओं ने भी केरल वाङ्मय के विस्तार में तथा भट्टतिरि के पांडित्य के प्रसार में काफ़ी योगदान किया है।

श्री भट्टतिरि की रचनाओं को छ: श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं। 1 स्तोत्र, 2 प्रशस्तियाँ, 3 चम्पू व महाकाव्य, 4 मुक्तक, 5 शास्त्र ग्रंथ, 6 फुट-कर रचनाएँ। 'नारायणीयम्', 'श्रीपादस्तुति', 'गुरुवायुपुरेश स्तोत्र' प्रथम श्रेणी में, 'गोश्रीवर्णन', 'माहमहीश प्रशस्ति', 'शैलाधीश्वर प्रशस्ति', दूसरी श्रेणी में, 'सूक्त श्लोक', 'आश्वलायन क्रिया-क्रम', 'प्रक्रिया सर्वस्व', 'धातु काव्य', 'अपाणिनीय प्रामाण्य साधनम्', 'मानमेयोदय', आदि पांचवी श्रेणी में रखी जा सकती हैं। शेष रचनाएँ अन्य श्रेणियों में की हैं।

महाभारत के आधार पर 'राजसूय' दूतवाक्य, 'पांचाली स्वयंवर, 'नालायनी चरित, 'नृगमोक्ष, 'नारदमोहन, 'दक्षयज्ञ, 'कोटि विरह, आदि बीस 'प्रबन्ध-ग्रन्थ' श्री भट्टतिरि ने लिखे हैं। 'महाभारत चम्पू' में महा-भारत की घटनाओं का विस्तृत वर्णन है। इसमें भीष्मोत्पत्ति, व्यासोत्पत्ति, सत्यवती परिणय, धृतराष्ट्रोत्पत्ति, पांडवोत्पत्ति, बकबध, सुभद्राहरण, अज्ञानवास, अश्वमेधपर्व, स्वर्गारोहण आदि बहुत से विभाग हैं। भट्टतिरि के इन चम्पुओं से केरल के चाक्कयार नामक कथावाचक लोगों को बड़ी मदद मिल रही है।

प्रक्रिया सर्वस्व :–

श्री मेलपत्तूर भट्टतिरि की अनमोल रचनाओं में 'प्रक्रिया सर्वस्व' का महत्वपूर्ण स्थान है। इसके निर्माण के मूल में एक कथा प्रचलित है। चेम्कक्शेरी महाराज देवनारायण अम्पलपुषा में रहते थे। अम्पलपुषा में एक कृष्णमंदिर है और महाराज बड़े कृष्ण भक्त थे। महाराज का यह व्रत था कि हर दिन ब्राह्मण के द्वारा महाभारत व भागवत् ग्रन्थों का वाचन कराने के बाद ही वे भोजन करते थे। उसके लिए उन्होंने एक ब्राह्मण

को नियुक्त किया था। एक बार वह ब्राह्मण भागवत्पारायण के बाद दूसरे दिन आने का वादा करके कहीं चला गया। लेकिन वचन के अनुसार वह दूसरे दिन नहीं आ सका। महाराज तो रोज की तरह स्नान-पूजा आदि करके ब्राह्मण के आगमन की प्रतीक्षा में बैठ गये। लेकिन ब्राह्मण आया नहीं। भोजन का समय बीत रहा था। महाराज मारे भूख के परेशान होने लगे। उन्होंने कहीं से एक ब्राह्मण को बुला लाने अपने सिपाहियों को भेजा। इस बीच में एक व्यक्ति ने आकर महाराज से कहा कि मंदिर के भीतर मंडप में एक बटोही ब्राह्मण बैठकर जप कर रहे हैं। राजा ने तुरंत उस ब्राह्मण को अपने समक्ष बुला लाने की आज्ञा दी। ब्राह्मण के आने पर महाराज ने पूछा कि वह अक्षरों और शब्दों को मिलाकर पढ़ने की जानकारी रखता है क्या? उस ब्राह्मण ने कहा कि इस कार्य में वह थोड़ी बहुत जानकारी रखता है। महाराज ने महाभारत ले आकर उनके हाथ दिया और पढ़ने को कहा। कर्णपर्व का पाठ हो रहा था। अतः भीम के पराक्रम के वर्णन के संदर्भ में अपनी मनीषा से उस ब्राह्मण ने एक नया श्लोक स्वयं मन ही मन बनाकर जोड़ दिया और पढ़ा। महाराज गंजे थे। श्लेष के रूप में इस श्लोक में महाराज के प्रति उपालंभ भी प्रस्तुत था। वह श्लोक इस प्रकार था :—

"भीमसेन गदातास्ता दुर्योधन वरूथिनी
शिखा खर्वाटकस्येव कर्णमूलमुपाश्रिता"

चूंकि राजा बड़े विद्वान थे, इस कारण श्लोक का व्यंग्य उनकी समझ में आ गया। राजा ने पूछा कि क्या वह मेल्पत्तूर भट्टतिरि है? कारण यह था कि उस ज़माने में मेल्पत्तूर के अलावा कोई पंडित इस प्रकार की कविता नहीं कर सकता था। राजा को प्रसन्न करने के लिए भट्टतिरि ने निम्नलिखित पद्य भी सुनाया:—

"अन्यं जनस्ताक्ष्र्यकेतुर्यद् पदं घटयिष्यति
तत्ते भवतु कल्पातं देव नारायण प्रभो!"

वह ब्राह्मण मेल्पत्तूर भट्टतिरि है, यह जानकर महाराज को जितना हर्ष हुआ उसका वर्णन नहीं हो सकता। उपर्युक्त घटना से मेल्पत्तूर का यश कितना व्याप्त रहा था, यह बात प्रकट हो सकती है। राजा और भट्टतिरि दोनों ने एक ही पंक्ति में बैठकर उस दिन भोजन किया। महाराज के आग्रह पर मेल्पत्तूर कुछ दिनों तक अम्पलपुषा में रहे। वहाँ रहते हुए श्री भट्टतिरि ने 'प्रक्रिया सर्वस्व' की रचना की। 'प्रक्रिया सर्वस्व' एक व्याकरण ग्रंथ है। उन दिनों अम्पलपुषा में एक चाक्कयार भी रहते थे। चाक्कयार लोगों का जातीय काम कथावाचन एवं रसीली उक्तियों के द्वारा श्रोताओं का मनोरंजन करना है। अतः इतिहास-पुराणों में वर्णित घटनाओं के आधार पर चाक्यार लोगों के उपयोगार्थ गद्य-पद्य-मय चम्पू ग्रंथ उन दिनों तैयार किए जाते थे। अतः वहाँ के चाक्यार की प्रेरणा तथा महाराज के आदेशानुसार श्री भट्टतिरि ने 'सुभद्राहरण' 'दूत-वाक्य, 'राजसूय' 'नृगमोक्ष' 'निरनुनासिक' 'मत्स्यावतार' आदि दस चम्पू ग्रंथों का भी निर्माण किया था। मलयालम के प्रशस्त कवि कुंचन नम्प्यार ने 'ध्रुव-चरित' नामक तुल्लल ग्रंथ में कई व्याकरण ग्रंथों का उल्लेख किया है, उनमें 'प्रक्रिया सर्वस्व' का भी नाम आता है। मलयालम साहित्य-सेवियों द्वारा निर्मित ग्रंथों में प्रक्रियासर्वस्व' का अग्रिम स्थान है।

इस ग्रंथ की रचना के बारे में ग्रंथकार ने अपना मंतव्य इस प्रकार प्रकट किया है :—

"वृत्तौ चारु न रूप सिद्धि कथनं रूपावतारे पुनः
कौमुद्यादिषु चात्रसूत्रमखिलं नास्त्येव तस्माद्त्वया-
रूपानीति समस्तसूत्र सहितं स्पष्टं मितं प्रक्रिया-
सर्वस्वाभिहितं निबन्धनमिदं मदुक्ताध्वना"

इस उक्ति से यह विदित होगा कि अम्पलपुषा महाराज के आदेशानुसार श्री भट्टतिरि ने इस ग्रंथ की रचना की है और वृत्ति, रूपावतार, कौमुदी आदि पूर्व शास्त्रों में जो त्रुटियाँ पाई गयीं उन त्रुटियों को दूर करना ही उनका मुख्य ध्येय था।

'सिद्धांत कौमुदी' के पूर्व केरल में 'प्रक्रिया कौमुदी' का ही प्रचार रहा था। 'प्रक्रिया सर्वस्व' में सूत्र, वृत्ति, उदाहरण, पद्य विवरण ये चार भाग हैं। यहाँ सूत्रों से तात्पर्य पाणिनी सूत्रों से है। सूत्रों की व्याख्या ही वृत्ति है। वृत्ति का सार पद्यों के रूप में दिया भी है। कालिदास, श्री हर्ष, माघ, भवभूति आदि कवियों के प्रयोगों को संदर्भों के अनुसार 'प्रक्रिया सर्वस्व' में श्री भट्टतिरि ने स्थान दिया है।

'सिद्धांत कौमुदीकार' श्री भट्टोजी दीक्षित ने 'प्रक्रियासर्वस्व' के निर्माता की भूरि प्रशंसा की है। निम्नलिखित श्लोक के द्वारा इस ग्रंथ का आरंभ होता है :–

"रास विलास विलोलं
स्मरत मुरारेर्म्मनोरमं रूपम
प्रकृतिषु यत् प्रत्ययवत्
प्रत्येकं गोपिका सुसम्मिलितम्"

इसका पूर्वार्द्ध सुनने पर श्री भट्टोजी दीक्षित ने कहा ऐसा वर्णन शास्त्रोचित नहीं है। परंतु उत्तरार्द्ध सुनने पर उन्होंने श्री भट्टतिरि की बड़ी प्रशंसा की। श्री भट्टतिरि रचित 'धातुकाव्य' देखा तो वे इतने प्रसन्न हुए कि भट्टतिरि का प्रत्यक्ष दर्शन करने के लिए केरल की ओर निकल पड़े। परंतु उनके केरल पहुँचने के पूर्व ही भट्टतिरि के दिवंगत होने का शोक समाचार सुनना पडा और श्री भट्टोजी दीक्षित केरल आए बिना लौट गये।

फुटकर रचनाएँ :—

यह लिखा जा चुका है कि श्री मेलपत्तूर ने कई छोटे-बड़े ग्रंथों की रचना की है। इस सीमित लेख में उन सबका विवरण नहीं दिया जा सकता। संक्षेप में कुछ रचनाओं का उल्लेख मात्र किया जाता है :

1. 'अपाणिनीय प्रामाण्य साधनम् :—

पाणिनी पर आँख मूंदकर विश्वास करने वाले कई वैयाकरण हमारे देश में हुए थे। वे पाणिनी के पूर्व जीवित आचार्यों के प्रयोगों को शुद्ध नहीं मानते थे। पाणिनी के समान पूर्वाचार्यों को भी मान्यता देने के उद्देश्य से रचित एक ग्रंथ है 'अपाणिनीय प्रामाण्य साधनम्,,

2. धातु काव्य :—

बहुत अधिक प्रशस्ति प्राप्त एक रचना है 'धातु काव्य'। कहा जाता है कि 'प्रक्रिया सर्वस्व' में धातुओं का विवरण बहुत कम दिया गया है और उस कमी को दूर करने के लिए 'धातु काव्य' का निर्माण किया है। 'धातु काव्य' के स्वरूप के बारे में ग्रंथकार ने यों लिखा है :—

'उदाहृतं पाणिनि सूत्र मंडलं
प्राग्वासुदेवेन तदूर्द्धतः परः
उदाहरत्यद्य वृकोदरुदितान
धातून क्रमेणैवहि माधवाश्रयात्

'धातु काव्य' की कथावस्तु कंस वध है।

3. वासुदेव विजय :—

श्रीमद्भागवत के आधार पर रचित एक सुन्दर काव्य है 'वासुदेव विजय'। यद्यपि व्याकरण शास्त्र के आधार पर इसका निर्माण हुआ है तो भी यह ग्रंथ सरस है। कंस ने अपनी बहन देवकी को मारने का निश्चय किया। और उसके बाल पकडते हुए कहा—राम ने शूर्पणखा को विरूपिणी बनाया और ताटका का बध किया तो मैं क्यों इसको न मारूँ ?

"अनासिका शूर्पणखा कृता न किं
रामेण नोवा किमघानि ताटका
खले ब्रुवत्येव मवाङमुखी सती
तस्मिन्नशेषा जनतोथ साऽरुदत्"

4. मानमयोदयम :—

श्री भट्टतिरि रचित एक प्रमुख दार्शनिक ग्रंथ है 'मानमेयोदयम'। पूर्व मीमांसा के कौमारिल सिद्धांत के आधार पर इसकी रचना हुई। प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति, अभाव ये छः प्रमाण कौमारिल मानते हैं। इस ग्रंथ के स्वभाव के बारे में निम्न पद्य में बताया गया है :—

"मानमेय विभागेन वस्तूनां द्विविधाः स्थितिः
अतस्तदुभयं ब्रूयः श्रीमत् कौमारिला ध्वना"

चार्वाक, बौद्ध, वैशेषिक, सांख्य आदि दर्शनों में प्रतिपादित सिद्धान्तों की समीचीन समालोचना 'मानमेयोदयम' में की है।

5. नारदमोहनम :—

समग्र कविता गुणों से गुंफित एक सुंदर प्रबन्ध है 'नारदमोहनम'। एक बार नारद मुनि ने भगवान कृष्ण की परीक्षा करने का निश्चय किया। श्री कृष्ण तो एक हैं और उनकी पत्नियाँ अनेक। एक ही व्यक्ति किस तरह सभी पत्नियों के हितानुसार आचरण कर सकता है ? यही था नारद का संदेह। वे भगवान की हर पत्नी के भवन में पहुँचते हैं—सभी भवनों में भगवान को किसी न किसी रूप में कार्यरत देख नारद आश्चर्य में आ जाते हैं। उसके बाद नारद ने भगवान से माया का स्वरूप समझाने की प्रार्थना की। भगवान ने वह बात मान ली।

भगवान ने पहले ही मन में निश्चय किया कि प्रथमतः नारद की मनः स्थिति में परिवर्तन लाना होगा और उसके बाद ही उपदेश देना उचित होगा। बाद में नारद के साथ एक सरोवर पर चले गये और संध्या-बंदन करने लगे।

थोड़ी देर में नारद एक रूपसी नारी बन गई। उस समय शिकार के लिए निकले हुए सिंधु राजा ने उसको देख लिया और दोनों में अनुराग पैदा हुआ। फलतः दोनों का परिणय हुआ। स्त्री पति के साथ राज-

धानी में पहुँच गई और आमोद-प्रमोद में दिन बिताने लगी। उसके कई पुत्र एवं पौत्र भी पैदा हुए।

एक बार निषाद राजा ने सिंधु राजा से कहा कि वे उनका कर चुका दें। राजा ने कर देने से इनकार किया। दोनों में घोर युद्ध हुआ। सिंधु राजा तथा उनके सब बेटे लडाई में काम आए। यह समाचार सुनकर रानी बहुत व्याकुल हुई और राजा का शव गोद में लेकर रोने लगी। उस समय भगवान ने नारद को बुलाया। तब स्त्री रूप बदल कर नारद प्रकट हुए। भगवान ने नारद से पूछा—"डरते क्यों हो ?,, क्या कोई विशेष घटना हुई है ? नारद की समझ में सारी बातें आ गईं। उसके बाद भगवान ने नारद को माया का स्वरूप समझाया। 'नारद-मोहनम', की यही कथावस्तु है। इस प्रबन्ध में कई सुंदर उक्तियाँ हैं। निम्नलिखित श्लोक में नारद की मनोरम झांकी मिल सकती है :—

"वीणापार्णि मृगाली धवलमपि दधानं जटा: पिंग केशा:
अंतस्थायत्तपस्यामय दहनलसज्वाल जालाय माना: ।"

भगवान निम्न प्रकार से माया का स्वरूप नारद को समझाते हैं :–

"एकोद्वयो जन्मजरादि हीनो
विश्वोद्भवस्थान विनाश हेतु:
पूर्णश्चिदानंद मयो विमुक्त–
स्सद्योह मेवेति विनिश्चिनुत्वम् ।"

अपने अपार पांडित्य के कारण श्री भट्टतिरि को अम्पलपुषा, कोच्चि, वटक्कुंकूर, कोषिक्कोड आदि राजाओं के यहाँ खूब आदर सत्कार मिलता था। श्री भट्टतिरि उन राजाओं का भी आदर अवश्य करते थे। श्री भट्टतिरिने अपना पूरा समय साहित्य-सर्जना एवं भगवान के भजन में बिताया, ऐसा उल्लेख मिलता है। अपनी रचनाओं में साहित्य की विविध विधाओं का अनुसरण कविने किया और उन्हें अपने मंतव्यों का परिधान

पहनाया। शायद ही केरल में ऐसा कोई पुस्तालय हो, जहाँ श्री भट्टतिरि की कोई न कोई ग्रंथ न रहता हो। अपनी अनुभूतियों और संवेदनाओं को प्रस्तुत करते समय भी श्री भट्टतिरिने केरल के नंपूतिरियों की नैसर्गिक रसिकता में कोई कमी नहीं प्रकट की थी। वे परम रसिक, पण्डित और हँसोड भी थे जो अपनी असीम भक्ति और पण्डित्य के सहारे सब की प्रशंसा प्राप्त कर सके।

जैसे एक सयानी नटी विविध परिवेशों से दर्शकों का मनोरंजन करती है, वैसे ही श्री भट्टतिरि की कविता-कामिनी भी रसिकों का मनो-रंजन करती है।

अब पुन: यह कहने की कोई जरूरत नहीं है कि श्री भट्टतिरि बड़े भक्त और ज्ञानी थे। अपने स्तोत्र-काव्य 'नारायणीयम्', के द्वारा जिस भक्ति मन्दाकिनी का प्रवाह दक्षिण में उन्होने किया उस से जन-मानस सदा सर्वदा उर्वर रहेगा।

साधारणत: वैयाकरण और दार्शनिक का नाता छत्तीस का सा है तथा उनके लक्ष्य भी भिन्न होते हैं। लेकिन श्री भट्टतिरि इस विषय में विकल्प हैं। वे प्रथम श्रेणी के रसिक कवि, दार्शनिक एवं पहुँचे हुए व्याकरण-वेत्ता रहे थे। इस में कोई सन्देह नहीं कि व्याकरणज्ञ और दार्शनिक की अपेक्षा श्री भट्टतिरि का कवि ही शीर्षस्थानीय बना हुआ है।

संख्या और गुण दोनों दृष्टियों से श्री भट्टतिरि का कृतित्व सराहनीय है। केरल की संस्कृति और केरलीय साहित्य के प्रचुर प्रचार में श्री भट्टतिरि का जो योगदान रहा, वह संभवत: अन्य किसी भारतीय भाषा को प्राप्त नहीं हुआ है।

लेखक : पं. नारायणदेव

-भक्त पूतानम

चंद इतिहासकारों का यह कथन है कि आर्य-ब्राह्मणों के आगमन के बाद ही केरल में नायर, ईषव आदि यहाँ के मूलनिवासियों की परस्पर सौहार्द्र भावना नष्ट हुई और इन परदेशी ब्राह्मणों ने अपनी उच्च सत्ता-स्थापना के लिए केरल में ऊँचनीच के आधार पर अवर्ण-सवर्ण व्यवस्था बनायी---सत्य पर आधारित होने पर भी यह सर्वमान्य है कि केरल में संस्कृति—गठन से विशेषत: भाषा-साहित्य-कला क्षेत्र में उक्त आर्य ब्राह्मण अथवा नंपूतिरियों का सहयोग अतीव महत्व का रहा है। इन नवागतों के मेल-मिलाप के कारण यद्यपि दक्षिण की चारों द्राविड भाषाओं में संस्कृत की मिलावट होती रही मगर एक साहित्यिक आन्दोलन के रूप में केरल में ही "मणिप्रवाळम" मलयालम का पर्याय बना। इस संबंध में भी कहा जा सकता है कि केरल के इन नंपूतिरि पंडितों ने केरल की मूल भाषा पर अपनी मातृभाषा का प्रभुत्व स्थापित करना चाहा था जैसा कि यहाँ के सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक क्षेत्र में कर चुके थे। इन तथ्यों के बावजूद कैरळी के इतिहास में यह आश्चर्य कहा जायागा कि मणिप्रवाळम के समानांतर में "पाट्टुकळ" (लोकगीत) में यहाँ की जो लोक भाषा-छंद-शैलियाँ गतिशील रही थीं इनके उन्नायक भी नंपूतिरि-भक्त कवि रहे।

मलयालम के आधुनिक महाकवि तथा इतिहासकार श्री उक्कूर परमेश्वर अय्यर का कथन कि मलयालम के गद्य-गुण आत्मसात करके भाषा-प्रयोग करनेवाले तीन ही कवि हुए हैं—चेरुश्शेरी, पूंतानम और कुंजननपियार-अगर सही माना जाय तो उक्त तीनों में प्रथम दो नंपूतिरि हैं।

चेरुश्शेरी और पूंतानम कैरली (केरल-भाषा-साहित्य) के प्रसिद्ध भक्त कवि हो चुके हैं। मगर भक्ति की दृष्टि से ये दोनों दो ढँग के भक्त कवियों के प्रतिनिधि माने जा सकते हैं। केरल के नंपूतिरि इल्लम (घराना) में सरस्वती और लक्ष्मी का सख्यभाव रहा है। साथ ही इल्लम "कोविलकम" (राज परिवार) द्वारा संरक्षित भी रहे हैं। मंदिरों में पुजारी बनने का प्रथमाधिकार तथा ऊट्टुपुरा (मंदिर की भोजनशाला) का आदर भी नंपूतिरियों को प्राप्त था। हिन्दी के भक्त कवियों को भक्ति-काव्य की प्रेरणा राजदरबारों से शायद ही मिला हो। मगर केरल के राजकुटुंबों के संपर्क तथा प्रेरणा से चेरुश्शेरी शंकरनंपिटी (नंपूतिरी का अपभ्रंश) को प्रसिद्ध कृष्ण गाथा का प्रणयन करते देखते हैं। मगर कवि पूंतानम चेरुश्शेरी जैसे राजसी भक्त कवि नहीं थे। पूंतानम नंपूतिरि की भक्ति इतनी सच्ची व सात्विक अनुभूतियों से आपूरित है कि उस कृष्ण भक्त की नजर में राजसी शान भी हेय थी। एक संदर्भ में वे अपने इष्ट देव से कहते हैं :

> माळिकामीते मेवुन्न मन्नरे
> तोळिल माराप्पु केररुन्नतुम भवान

(हे भगवन्! आज जो राजा बनकर महलों में विराजमान है कल कंधे पर गुदडी लादकर उसे भिखारी बनाने वाले भी आप ही (भवान्) हैं) पूंतानम का "ज्ञानपाना" नामक उत्कृष्ट भक्ति-रचना चेरुश्शेरी की तरह उदयवर्मा राजा के साथ की शतरंज-क्रीडा के माध्यम से अवतरित नहीं हुई थी। उसकी गंगोत्री एक संतानवत्सल सद् गृहस्थ की अश्रुधौत अनासक्ति थी। साधारण मनुष्य की भक्ति के मूल में जीवन की नश्वर भावनाजन्य वैराग्य होता है। मगर एक संपन्न ग्रहस्थ की

भक्ति का मूल मानसिक शांति और अपने इष्टदेव के प्रति एकात्मक आनंद भाव हैं। कवि पूंतानम इसी स्तर के भक्त थे। उनके जीवन में कोई महत्वाकांक्षा नहीं थी। महाकवि बनकर या महाकाव्य प्रणयन द्वारा प्रशस्ति पाने की भी कामना नहीं थी। और न इसके लिए उन्होंने अन्य कवियों की तरह व्याकरण और शास्त्रों का सयत्न अध्ययन-मनन किया था। सच्चा भक्त कविता को अभिव्यक्ति का साधन मात्र मानकर ही अपनाता है। पूंतानम ने सरल और भोले नंपूतिरि का जीवन बिताया अपनी ग्रहस्थी का आघात सहा। उस अघात का उन्नयन हुआ वे गुरुवायूरप्पन (केरल के प्रसिद्ध गुरुवायूर मंदिर के देवता विष्णु अथवा कृष्ण) के सच्चे भक्त बन गये। उस भक्त का निर्वेदानद मूलक अभिव्यक्तियाँ कालान्तर में केरल के समस्त पामर-पंडित गृहस्थों के दैनिक प्रार्थनागीत बन गयीं। वस्तुत: पूंतानम की निश्चल भक्ति ने ही उन्हें हृदयहारी काव्य प्रतिभा का वरदान दिया। साथ ही जीवन के उतरार्द्ध में उनकी टूटी गृहस्थी जोड भी दी। पून्तानम की तुलना हिन्दी के अष्टछाप के कवियों से कर सकते हैं। मीरा और रसखान की सी उनमें अभिव्यक्ति की तन्मय-प्रतिभा विराजमान थी।

केरल का प्रसिद्ध गुरुवायूर मंदिर न तो किसी प्रसिद्ध नदी-तट पर स्थित है और न स्थापना की दृष्टि से विराट है। मगर भक्तिमहात्म्य में यह दक्षिण में तिरुप्पती और श्रीरंगम से कम नहीं है। केरल के हृदय-प्रदेश में स्थित इस मंदिर के देवता का प्रभाव यहाँ की जनता पर ही नहीं अपितु विशिष्ट भक्त कवियों पर भी रहा है जो इस मंदिर में रहकर गुरुवायूरप्पन से भक्ति का दिन दैनिक रिस्ता पाल कर कैरळी को अपनी विशिष्ट रचनाएँ भेंट करते रहे हैं। ऐसे कवियों में पूंतानम का नाम बड़े आदर से लिया जा सकता है।

भक्त महाकवि पूंतानम की जीवनी ऐतिह्यों तथा दंतकथाओं से भरी पडी है। मगर कपोलकल्पना कहकर इन सब पर अविश्वास करने के बदले पूंतानम के व्यक्तित्व तथा उनके साहित्य के स्थायी भाव को समझने की दिशा में अगर इन ऐतिह्यों का लाक्षणिक मूल्य आंका जाय तो

इन कथाओं का सांगत्य मार्मिक ही प्रतीत होगा। सन् 1547 के करीब दक्षिण मलबार के अंतर्गत अंडबडिपुरम में पूंतानम का जन्म हुआ और वे नब्बे वर्षों तक जीवित रहे। जाति में नंपूतिरी होने पर भी वे वेद-विद्या के लिए अनर्ह परिवार के सदस्य होने के कारण शैशव से ही विधिवत् वेदाध्ययन और शास्त्र-विद्या पाने से वे वंचित रहे। फिर भी अपनी कृतियों में नीलकंठन ने नंपूतिरी का गुरुरूप में बारंबार स्मरण किया है। "पूंतानम" कवि का ग्राम-नाम है। उनका असली नाम सन्देहात्मक है, यद्यपि कुछ इतिहासकार उनका नाम "ब्रह्मदत्तन" मानते हैं। जो भी हो, उनका सर्वपरिचित नाम पूंतानम नंपूतिरी है।

गार्हस्थ जीवन की एक मार्मिक घटना से पूंतानम, भक्त पूंतानम बन गये। अतीव कामना व मनौतियों के फलस्वरूप चूँकि वे एक शिशु के पिता बने थे अतः धूमधाम से बंधु-बांधवों को न्योता देकर बच्चे का अन्न-प्राशनोत्सव मनाया गया। नंपूतिरी स्त्रियों को "अन्तर्जनम" भी कहा जाता है। बाहर निकलते समय वे काफी पर्दा-ओढिनी रखती हैं। छत्री भी पर्दे का काम देती है और घर में प्रवेश होते ही सब उतार देती हैं। सीमंतपुत्रोत्सव में आयी हुई अन्तर्जनम लोग अन्दर प्रवेश करते ही अपनी-अपनी वस्तु सज्जा उतार कर एक जगह ढेर करती गयीं जहाँ कि पूंतानम का बच्चा सोया पड़ा था। ऐन मुहूर्त पर पूंतानम की अंतर्जनम बच्चे को लेने आई तो देखा कि मेहमानों की वस्तु-सज्जा के नीचे दबकर बच्चा मर चुका है। इस मर्म-कथा ने पूंतानम के जीवन को मोड दिया। गृहस्थी के प्रति विरक्ति के कारण अपना समय जप-ध्यान-स्नान में बिताने लगे और अपने घर से यात्रा करके गुरुवायूर मंदिर भी अक्सर पहुँचते रहे। अचिरेण उनकी काव्य प्रतिभा फूट पडी। मानव जीवन की नश्वरता को देखकर भी मनोरथ-प्रियता, कर्म-पाश की अलंघनीयता की सोदहरण व्याख्या करते हुए आत्मज्ञान की तरफ आवाहित करनेवाली पूंतानम की सर्वाधिक लोकप्रिय पहली रचना "ज्ञानप्पाना" कवि के दांपत्य की उपरोक्त व्यथा का नवनीत मानी जाती है। भारत के अधिकांश भक्त कवियों के जीवन में इस उदात्त उन्नयन की अद्भुत समता दर्शनीय है। हिन्दी के तुलसी, सूर,

मीरा, रसखान प्रभृति भक्त कवियों में भी रूप-भेद के साथ यही मोड़ पाया जाता है । खैर,

उण्णिकृष्णन मनस्सिल कळिक्कुंपोळ्
उण्णिकळ मट्ट्रोन्नु वेणुमो मक्कळाय

(जब मेरा मन बालकृष्ण का क्रीडा-केन्द्र बन गया है तब और संततियों की जरूरत ही क्या है ?) उक्त पंक्तियों को सार्थक करते हुए पूंतानम गुरुवायूर में सालों तक रहे और कुमाराहरणम (संतानगोपालम) जैसे दर्जनों गीत-कीर्तन-स्तोत्रों की धारा उन की लेखनी से बहती रही । भक्ति, विनय तथा कृष्णलीला से ओतप्रोत ये श्रुतिमधुर रचनाएँ मंदिर में आनेवाले भक्तजनों को भी कंठप्रिय लगने लगीं । दूसरी तरफ मंदिर में आनेवाले आभिजात के मारे गर्विष्ठ पंडितों से भी पूंतानम की टक्कर होने लगी । पूंतानम अपने सरल स्वभाव, विनय प्रकृति, इष्टदेवकी कृपा तथा जनसाधारण के आदर के बलपर सदा वरिष्टता प्राप्त करते गये । भक्त और भगवान की इस अनन्य अन्योन्यता के अनेकों मार्मिक और रसीले ऐतिह्य केरलीय जन-मानस को आज भी प्रियंकर बने हुए हैं ।

संस्कृत के उद्भट विद्वान भक्त कवि तथा "नारायणीयम" के प्रसिद्ध प्रणेता मेलपत्तूर नारायण भट्टतिरि पूंतानम के समकालीन माने जाते हैं । दोनों गुरुवायूर मंदिर में सहवासी भी रहे । उन दिनों पूंतानम अपनी मलयालम कविताओं की आवश्यक दुरुस्ती मेल्पत्तूर से कराया करते थे । वेदशास्त्रों के महापंडित मेलपत्तूर को संस्कृत के मुकाबले में देशीभाषा-मलयालम की रचनायें हल्की प्रतीत होती थीं । साथ ही पूंतानम जैसे हीन स्तर के नंपूतिरी की कविता-शुद्धि के प्रति भी वे उतने सहृदय नहीं थे । इस अन्दरूनी सत्य से अनभिज्ञ भोले-भाले पूंतानम जब अपनी कविता-दुरुस्ती के लिये बारंबार दबाव डालने लगे तो एक दिन तंग आकर मेलप्त्तूर कह बैठे कि "पूंतानम ! भाषा-कविता में अशुद्धियाँ नहीं होंगी तो और क्या होंगी ?" यह सुनकर पूंतानम उदासमन अपने अड्डे पर लौट पड़े । मगर उस दिन रात को मेलपत्तूर की वात-पीडा बढ़ गई और गुरुवायूर

भगवान ने स्वप्न में मेल्पत्तूर का गर्व खर्व करते हुए कहा "मुझे मेल्पत्तूर की विभक्ति (व्याकरणनियम) से अधिक पूंतानम की भक्ति ही प्रिय है !" कहा जाता है कि उसके बाद मेल्पत्तूर पूंतानम की भक्ति के कायल हो गये और उनसे माफ़ी मांगी।

गुरुवायूर मंदिर में रोज संस्कृत के बड़े-बड़े विद्वानों द्वारा भागवत् और महाभारत का कथावाचन होता था। भक्त जनता संस्कृत श्लोकों की भक्ति निर्भर पूंतानम की व्याख्या की सदा मांग किया करती थी। पूंतानम की यह लोकप्रियता वाचक विद्वानों की आँखों में किरकिरी भी पैदा करती थी। एक दिन रुग्मिणी-स्वयंवर प्रसंग चल रहा था। कथित संस्कृत श्लोक का इतना ही आशय था कि "रुग्मिणी ने ब्राह्मण द्वारा कृष्ण के पास सन्देश कहला भेजा।" मगर पूंतानम ने अपनी तन्मयता तथा जनरुचि का निर्वाह करते हुए व्याख्या की कि "रुग्मिणी ने ब्राह्मण के हाथ में एक पत्री लिखकर भेजी।" इतने में वाचक विद्वान पूंतानम को नीचा दिखाने के लिये भरी-भीड में ही पूंतानम से पूछ बैठा कि "पत्री लिख भेजी" श्लोक के किस शब्द से यह अर्थ निकलता है। भक्त की असमंजस-स्थिति देखकर मंदिर के अन्दर से भगवान कृष्ण की अशरीरी हुई कि "पत्री लिख भेजी नहीं—ऐसा किस श्लोक में लिखा है ? और ब्राह्मण जब मेरे पास आया अपने साथ रुग्मिणी का पत्र भी लाया था।"

एक बार जप करते हुए पूंतानम के मुँह से निकला कि "पद्मनाभो मर प्रभु !" बगल में जाप करनेवाले किसी विद्वान ने व्यंग्य किया "बुद्धू ! संधिनियमानुसार कहो "अमर प्रभु।" तुरंत भगवान रक्षा के लिए आये और पूंतानम को बुद्धू कहने वाले विद्वान बुद्धू ने सुना "अगर मैं अमरों का ही प्रभु हूँ तो मर-(मर्त्य, मानव) प्रभु और कौन है ? मैं मर प्रभु भी हूँ।"

कहा जाता है कि संतानगोपालम ("कुमाराहरणम पाना") काव्य में जब पूंतानम ने स्वर्ग का सही वर्णन प्रस्तुत करना चाहा तो गुरुवायूर भगवान ने स्वयं स्वर्ग में उपस्थित रहकर पूंतानम को दर्शन दिये थे।

एक बार जब भगवत्-दर्शन के लिए घर से निकल कर पूंतानम गुरुवायूर जा रहे थे तब रास्ते में एक मुसलमान बटमारने उनको लूटना चाहा तो गजेन्द्र और पांचाली की तरह पूंतानम पुकार उठे ।

या त्वरा द्रौपदी त्राणे, यात्वरा करि रक्षणे
मय्यार्ते करुणामूर्ते ! सात्वरा क्व गताहरे ।

(जितनी वेगता से तुम द्रौपदी (कौरव-दरबार में दुःशासन द्वारा वस्त्राक्षेप के समय) और हाथी की रक्षा (गजेन्द्रमोक्ष) के लिए तुम दौड पड़े थे मेरी पुकार पर तुम्हारी वह त्वरा (वेगता कहाँ गयी ?) कहा जाता है कि उसी समय गुरुवायूर मंदिर के संरक्षक सामूतिरी राजा के मंत्री घोडे की सवारी करते हुए वहाँ से निकले और उन्हीं के द्वारा पूंतानम की रक्षा हो गयी । कृतज्ञता प्रकट करते हुए पूंतानम ने अपनी सोने की अंगूठी उतार कर घुडसवार को भेंट दी । उसे स्वीकार कर घुडसवार चले भी गये । गुरुवायूर मंदिर पहुँचने पर मंदिर के प्रधान पूजारी ने वही मुंदरी-पूंतानम को सौंपते हुए कहा "पूजा के अवसर पर देव की उँगली में देखा । गत रात को स्वप्न में गुरुवायूर भगवान का संदेश भी मिला था कि मुंदरी पूंतानम की है, लौटा दें ।" स्पष्ट है कि मंत्री के रूप में पूंतानम की रक्षा किसने की होगी ।

भद्रकाळी (दुर्गा, चण्डी) पूजा-प्रधान केरल के मंदिरों में जो-जो गीत गाये जाते हैं उनमें कुछ पूंतानम लिखित माने जाते हैं । कहा जाता है कि एक बार पूँतानम को चेचक की बीमारी हुई थी । गुरुवायूर भगवान के निर्देशानुसार उपरोक्त गीत चण्डी की स्तुति में रचे थे जिसके फलस्वरूप बीमारी से वे मुक्त हुए ।

उपरोक्त ऐतिह्यों से इतना तो स्पष्ट है कि वेदविहित विद्वानों, संस्कृत पंडितों के बीच में लोकभाषा साहित्य की प्रतिष्ठा करने के लिये पूंतानम को कैसी साधना करनी पडी और पूंतानम की निष्ठा को जनता-जनार्दन का अनुमोदन किस कदर प्राप्त होता रहा । जो भी हो, निष्क-पट भक्त तथा विनीत व्यवहार द्वारा पूंतानम गुरुवायूर के तथाकथित

पंडितों द्वारा भी आदरणीय बनते गये और मंदिर की भोजनशाला के अधिकारी भी प्रसाद-पंक्ति में पूंतानम को सर्वोच्च स्थान देने के लिये विवश हो गये।

ऊँच-नीच की दृष्टि से नंपूतिरी और नंपूतिरीप्पाड में अंतर माना जाता है। नंपूतिरीप्पाड नंपूतिरी से श्रेष्ठ है। लगन, स्वाध्याय तथा विद्वानों की संगत से पूंतानम नंपूतिरी यद्यपि मलयालम की तरह संस्कृत और तमिळ में भी अपनी काव्य-प्रतिभा प्रकट कर चुके थे फिर भी नंपूतिरिप्पाडों की नजर में वे नंपूतिरी ही रहे। मगर जनता और जनार्दन चूँकि पूंतानम के पक्ष में थे अतः मंदिर के अधिकारियों तथा तथाकथित पंडितों की दाल गल नहीं पाती थी। फिर भी उक्त असूयालू दल मौके की ताक में रहता था। एक बार भोजनशाला की प्रसाद-पंक्ति में पूर्वक्रमानुसार पूंतानम अपने वरिष्ठासन पर भोजन के लिए बैठे हुए थे। जब मंदिर के अधिकारी ने किसी नवागत नंपूतिरिप्पाड पंडित को पूंतानम की जगह पर बिठाना चाहा। इस अपमान से आहत होकर पूंतानम भोजन किए बिना ही अपने अड्डे में जाकर पडे रहे। तुरंत भक्त को भगवान से सांत्वना मिली कि "पूंतानम! अब इन दुष्टों के बीच में तुम्हारा न रहना ही अच्छा है। अतः तुम घर जाओ। भविष्य में तुम्हारे घर आकर मैं तुम्हें दर्शन दिया करूँगा।" बूढ़ापे की सीढियों पर उतरनेवाले पूंतानम ने ससंतोष गुरुवायूर-मंदिर से विदा ली। घर पहुँचने पर पूंतानम ने तब तक भोजन नहीं किया जब तक कि भगवान के दर्शन नहीं हुए। आखिर भक्त की बाईं दिशा (वामभाग) में कृष्ण ने दर्शन दिए। पून्तानम ने जो मंदिर बनवाया उसका नाम "वामपुरमंदिर" पडा। वार्द्धक्य तक भगवान के मंदिर जाकर पूजा करनेवाले भक्तों को सबने देखा होगा। मगर भक्ति के बल पर पूजा के लिए भगवान को अपने इल्लम (घर) तक बुलाकर अपनी पूजा मात्र के लिए मंदिर बनवाने वाले भक्त पूंतानम को केरल की गुरुवायूर-भक्त जनता कभी नहीं भूली। गुरुवायूर भगवान के भक्तजन आज भी वामपुरम क्षेत्रम को भी गुरुवायूर का दूसरा सस्करण मानकर वहाँ की तीर्थ यात्रा करते हैं, मनौती मनाते हैं, नाम-

करण अन्नप्राशन कर्म करते हैं और शादी-ब्याह के रस्म अदा करते हैं। इतना ही नहीं, अपितु केरलीय जनता के इस नैतिक उद्धारक के महत्व को मानकर केरल के साहित्यकार लोग भी उस मंदिर के जीर्णोद्धार की योजनायें अब बना रहे हैं। "पूंतानम स्मारक" बनाने पूंतानम की समस्त कृतियों के प्रकाशन प्रसार का केन्द्र स्थापित करने तथा हर साल "पूंतानम दिवस" मनाने का बीड़ा उठाया जा रहा है। इस भूमिका को सार्थकता देकर अमल में लाने का उत्तरदायित्व निस्संदेह वर्तमान गुरुवायूर देवस्वम का भी है, जिसकी आमदनी केरल के समस्त मंदिरों से अधिक है। सुना जाता है कि मेल्पत्तूर स्मारक निर्माण की तरफ़ गुरुवायूर देवस्वम का रक्षा-हस्त आगे बढा है। भक्ति प्रधान गुरुवायूर विभक्ति का रक्षक न बने—यह कतई तात्पर्य नहीं है। मगर गुरुवायूर भगवान ने स्वयं स्वीकारा था कि "मेल्पत्तूर की विभक्ति से अधिक पूंतानम की भक्ति मुझे इष्ट है।" गुरुवायूरप्पन की यह चाह अनसुनी करना गुरुवायूर देवस्वम के लिये गौरव का विषय नहीं होगा। क्योंकि केरल की जनता मेल्पत्तूर को कम जानती है और पूंतानम को आत्मसात कर चुकी है। इस लोक भक्त की अवहेलना केरल की वर्तमान उद्बुद्ध जनता शायद ही क्षमा कर पायगी। **जनता तो जनता**, संभव है कि जनमत के दबाव में स्वयं गुरुवायूर भगवान भी वहाँ से उठकर वामपुरम को स्थायी वास केन्द्र बना बैठे।

पूंतानम की कृतियाँ :—

पूंतानम की कुल बीस-बाईस कृतियों में अधिकांश स्तोत्र और कीर्तन हैं जैसे पार्थसारथीस्तवम, घनसंघम, नारायण कीर्तनंङळ, गोविन्दकीर्तनंङळ, आनन्दनृत्तम, द्वादशाक्षर नाम कीर्तनम, श्रीकृष्ण कीर्तनंङळ, अष्टाक्षरकीर्तनम, ब्रह्मपरगोविन्दकीर्तनम, गोपालकृष्णकीर्तनम, गौरीकीर्तनम, वामपुरेश कीर्तनंङळ, पद्मनाभकीर्तनम, विवेकोदयकीर्तनम, जयकृष्णकीर्तनम, विडकोळकीर्तनम श्रीरामकीर्तनंङळ, मुकुन्दकीर्तनम, दशावतार स्तोत्रम आदि। ये कीर्तन-स्तोत्र केरल के मंदिरों में भक्त-पूजारी लोग, घरों में गृहस्थ नर-नारी सायं प्रातः की पूजा-वेला में गाते हैं और बच्चों को सिखाते

हैं। 16 वीं सदी के इन कीर्तनों के आज भी सजीव स्थायित्व का कारण उनमें अंतर्भूत निर्मल ईश्वर भक्ति, नैतिक भाव और अनुभावों को प्रकट करनेवाली सहज सरल संगीतात्मक भाषा हैं। इन गीतों को हिन्दी के रामचरित मानस की सरलता, रसखान के भाषा माधुर्य तथा मीरा की तन्मयता का संगम कह सकते हैं। केरल के घर घर में शताब्दियों से जीवित तीन कवि माने जाते हैं—एषुत्तच्छन् चेरुश्शेरी और पूंतानम। विशेष उल्लेखनीय है कि घर की मातृ जाति ही इन तीनों की संरक्षिका है। आधुनिक स्कूली शिक्षा के पूर्वकालों में लड़कियों की शिक्षा की कसौटी भी इन तीनों की रचनाओं के गायन-पारायण की कुशलता मानी जाती थी। शादी-ब्याह के निश्चय के समय दुलहिन की प्रामाणिकता की शर्तों में उक्त योग्यता को भी महत्व दिया जाता था जिसे "वायनशीलम" (वाचन का अभ्यास) कहा जाता था। मगर एषुत्तच्छन और चेरूश्शेरी की कृतियों का महत्व जहाँ विभिन्न उत्सवों अथवा पारायण के मौसमों में माना जाता है, पूंतानम के कीर्तन-स्तोत्र को हर संध्यत्व ब्रह्ममुहूर्त में स्थान प्राप्त है। भारत भर में शायद केरलीय घरों की ही विशेषता कही जायगी जहाँ संध्या होते ही बच्चों के खेल-कूद पर विराम लग जाता है, हाथ मुँह धोकर माथे पर भस्मलेपन हो जाता है (चन्दन प्रातःकालीनलेपन माना जाता है) और घर के बरामदे में पलथी मारकर सब कतार में बिठाये जाते हैं। वे कोरस में ज़ोर से (उच्चारण शुद्धि तथा रसोई घर में निशा-भोजन की तैयारी में व्यस्त गृहनायिका तक सुनाई देने के लिये भी) नमः शिवाय, नारायणाय नमः अच्युताय नमः, अनंतायनमः, अमृतायनमः गोविन्दा-यनमः गोपालाय नमः, श्रीकृष्णाय नमः विष्णुवेहरि आदि विविध देवताओं, रामायण-महाभारत के वीर पुरुषों, पंच कन्याओं, देश के विविध नदी-तीर्थों की नामावली का मुखाग्र वाचक करते हैं। उसके बाद भक्ति रस-प्रधान गीत, फिर स्कूल के लिए आवश्यक गणित-पहाडा, सप्ताह, मास, नक्षत्र, आदि की तालिका आदि का भी अभ्यास-चक्र चलता है। इन सबको मिलाकर "नामम् चोल्लल्" (नामोच्चार) कहते हैं। इतनी भूमिका का मकसद यही कि 'नामम् चोल्लल्" में पूंतानम के गीतों की अनिवार्यता

रहती है। इस समय गाँव भर के शिशु-कंठों के समवेत स्वर में पूंतानम के कीर्तनों की पावनता घर के नास्तिक बुजुर्ग के दिल को भी छू जाती है। अधिकांश कीर्तन-स्तोत्र कृष्णमय हैं। बाकी शिव तथा केरल के स्थानीय देवी-देव संबंधी हैं।

अंजना श्रीचोर ! चारुमूर्ते कृष्ण !
अंजलि कूप्पि वणंङिटुन्नेन
आनंदालंकार ! वासुदेव कृष्ण
आतंकमेल्ला मकर्रिट्टेणम
इंदिरा कांत ! जगन्निवास कृष्ण !
इन्नेन्रे मुँबिल विळंङिटेणम

(अंजन की शोभा को भी मात करने सुन्दर कृष्ण ! अंजलिबद्ध होकर मैं तुम्हारा वंदन करता हूँ। आनंददायक अलंकारोंवाले हे वासुदेव ! मेरे सारे भय को दूर करो। हे, इन्दिरापति ! ब्रह्मांडवासी ! मेरे सन्मुख आकर दर्शन दो)

करिमुकिल वर्णन्रे तिरुवुटलेन्नुट
अरिकिलवन्नेप्पोषुम काणाय्केणम
कालिल चिलंबुम, किलुक्किनटक्कुन्ना
गोपालकृष्णने काणय्केणम
किंकिणियुम वळमोतिरवुम चार्ति
मंङियोटेन् मुंपिल काणाय्केणम
कुंजिकैरण्टिलुम वेण्णकोटुतम्मा
रंजिप्पिक्कुन्नतुम काणाय्केणम
कूताटीटिम पशुकुट्टिककुमायी
ओतु कळिप्पतुम काणाय्केणम

(घनश्याम शरीर वाले कृष्ण को अपने पास ही सदा देख पाऊँ अपने नन्हें पदों में किंकिणी बजाकर चलनेवाले को, हाथ में कंकन,

उंगलियों में मुंदरीधारी कृष्ण सुन्दरता के साथ मेरे सामने प्रकट हों। दोनों नन्हें हाथों में माखन अम्मा से पाकर सन्तुष्ट होनेवाले, उछल-उछल कर छलांग भरनेवाले, बच्छड़ों के साथ खेलनेवाले कृष्ण को मैं देख पाऊँ)

संगीतात्मक भक्ति के साथ बच्चों को स्वर और व्यंजनाक्षरों को सिखाने की कवि की सरस पद्धति भी पंक्तियों के आदि अक्षरों में दर्शनीय है।

प्रातः शैया छोडते ही कृष्ण की झांकी की कामना के चरण मनोहर

कणिकाणुन्नरेम् कमलनेत्रन्र्
निरमेषुम मंत्रतुकिल चार्ती
कनकिंकिणी वळकळमोतिरम
अणिञ्ञुकाणणम भगवाने।
शिशुक्कवायुळ्ळ सखिमारुमतानिम्
पशुक्कळेमेञ्ञु नटक्कुंबोळ
विशक्कुंबोळ वेण्ण कवर्नुण्णुमुण्णि
वशत्तु वा कृष्ण कणिकाण्मान

(आँख खोलते ही पीतांबर धारे, सोने के कंकणकिंकिणी पहने हे भगवान! तुम्हारी झांकी चाहता हूँ। मैं उस कृष्ण का प्रातः दर्शन चाहता हूँ जो छोटे, हम उम्र के साथियों के साथ गाय चराते हों और भूख लगने पर माखन चुराकर खाते हों)

वैक्कम मंदिर के देव शिवस्तुति की बानगी भी आस्वादनीय है—

नरनायिङिने जनिच्चु भूमियिल
नारकवारिधि नटुविलञान
नरकतिलनिन्नु करकेर्र्टिटेणम
तिरूवैक्कम वाषुम शिवशंभो!

(वैक्कम में विराजमान हे शिव ! मैं मानव होकर इस भूमि में जन्मा, नरक रूपी सागर मध्य में फँस गया हूँ। यहाँ से निकाल कर मेरा बेडा पार कराओ)

अंबाटी तन्निलोरूण्णियुँयंङने
उण्णिकोरूण्णिकुषलुमुंडंङने
उण्णिक्कु पेरूण्णिकृष्णनेन्नंङने
उण्णिवयर्र्त्तु चेरूमुंडंङने
उण्णिक्कै रंडिलुम वेण्णयुंडंङने
उण्णिक्कालकोंटोरु नृत्तमुंडंङने

उण्णि (मुन्ना लल्ला) शब्द के आनंद नर्तन, विविध अर्थभंगिमा तथा संगीतगुंजन द्वारा कवि ने वात्सल्य भक्ति का रसायन तैयार किया है (गोकुल में एक मुन्ना है। उस मुन्ना के हाथ में एक नन्ही मुन्नी मुरली है, उस बालक का नाम बालकृष्ण है जिसके नन्हे पेट पर धूलि का चिह्न है, नन्ही दोनों बाहों में माखन है (वेण्ण) वह अपने नन्हे पैरों से नर्तन भी करता है।)

जपक्रिया में द्रुत ताल की मस्ती भरनेवाली भक्त पूंतानम की चार पंक्तियाँ देखें :—

कण्णन्र् कळियुंट्टु कळवुंट्टु कनिवुंट्टु
उण्णिकळ पलतुंटु जयकृष्णशरणमे
काल्चिलंबोलियुंट्टु कळकळच्चिरियुंट्टु
काच्चापालक्कोतियुंटटु जयकृष्णशरणमे

मैं उस कृष्ण की शरण-गत हूँ जो खेलता है, चुराता है, दयालु है, संग साथी वाला है, जिसके पैरों में नूपुर बजते हैं, मुँह में कलकलाहट है, जिसे गरम दूध पसंद है)

भगवद्गीता के दूसरे अध्याय के अंतिम भागों में वर्णित स्थितप्रज्ञ की प्रसिद्ध परिभाषा को पूंतानम "मूलतत्वम" नामक अपने गीत द्वारा कैसी वाल सहज अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं ?

दुखमोट्टुक्कुन्न तंपुराने कृष्ण ? तृक्कषल्ञानिता कुंपिट्टुन्नेन
दुखमेट्टुततिनेन्तेमूलम कृष्ण ! दुखमेट्टुततु जन्ममूलम
जन्म मेट्टुततिनेन्ते मूलम कृष्ण ! जन्ममेट्टुततु कर्ममूलम
कर्ममेट्टुततिनेन्ते मूलम कृष्ण कर्ममेट्टुततु राग मूलम
रागमेट्टुततिनेन्ते मूलम कृष्ण ! रागमेट्टुततु मान मूलम
मानमेट्टुततिनेन्ते मूलम कृष्ण ! तन्ने निनयाय्कमाज मूलम
तन्ने निनयाय्वनेन्ते मूलम कृष्ण ! अज्ञानमोन्न विवेक मूलम

(हे दुखमोचन करनेवाले कृष्ण ! तुम्हारे चरणों का वंदन करता हुआ दुख का कारण जानना चाहता हूँ। (आगे की प्रश्नोतरी का सारांश है) दुख का कारण जन्म है और जन्म कर्म पर आधारित है। कर्म राग मूलक है, राग गर्व मूलक, अपने को न पहचानने के कारण गर्व होता है और अज्ञान और अविवेक ही आत्म ज्ञान में वाधक हैं।)

अव पूंतानम के सर्वाधिक प्रसिद्ध तीन काव्यों पर किंचित प्रकाश डालना अप्रासंगिक न होगा।

(1) ज्ञानप्पाना :—

सीमंत शिशु के अकाल निधन जन्म निर्वेद भाव से, कुल मानव सत्ता की असारता के विश्लेषण की प्रेरणा कवि को मिली। इस क्षण जीवी-मनुष्य के वलूणी स्वप्न तथा फिर स्वप्न भंग का बहुरंगी चित्र ज्ञानप्पाना में भरे पड़े हैं जो इतने यथार्थ तथा सजीव बने हैं कि पाठक व श्रोता में आत्म ज्ञान की ललक अपने आप पैदा हो जाती हैं।

पत्तुमासम वयर्र्ल्ल कषिञुपोय
पत्त् पंतीराण्ड्ण्णियायुम पोय

तन्नत्तानभिमानिच्चु पिन्नीट्टुम
तन्नत्तानरियाते कषियुन्नू
एत्रकालमिरिक्कूमिनियेन्नुम
सत्यमो नयुक्केतुमोन्निल्लल्लो
नीर्पोळपोलेयळ्ळोरू देहत्तिल
वीर्पुमात्रमुंडङने तोन्नुन्नू

(दस मास मा के गर्भ में, दस बारह साल बचपन में यों ही गये । फिर भी मनुष्य बाकी आयु को झूठे अभिमान में नष्ट करता रहता है । अपने जीवन-काल का हिसाब किसी के पास भी नहीं । बुलबुले सी यह देह यों ही फूली दिखायी देती है)

ऐसी नाजुक हालत है इनसान की । फिर भी वह चेतता नहीं ।

स्थानमानंङळ चोल्लिक्कलहिच्चु
नाणम केट्टु नटक्कुन्नितु चिलर
मद-मत्सरम चिंतिच्चु चिंतिच्चु
मतिकेट्टु नटक्कुन्नितु चिलर
कोलकंङकिल सेवकरायिट्टु
कोलम तुक्कि जेळियुन्नितु चिलर
वंदितन्मारे कणुन्न नेरतु
निंदिच्चत्रे परयुन्नितु चिलर
ब्राह्मण्यम कोंडु कुंतित्तु कुंतित्तु
ब्रह्मावु मेनिक्कोव्वायेन्नुम चिलर
विद्यकोंडरियेण्डतरियाते
विद्वानेन्नु नटिक्कुन्नितु चिलर
कुंकुमतिन्र् वास मरियाते
कुंकुमम चुमक्कुम पोलेगर्दभम

(कोई पद-पदवी केलिये, कोई ईर्ष्याद्वेष से पीडित होकर भटकते हैं। कोई अपनी दास्यवृत्ति पर इतराता है। वंदनीय की निन्दा होती है। ब्राह्मण अकडकर अपने को ब्रह्म से भी बडा मानता है। विद्या के बिना कोई विद्वान बना फिरता है जैसे गधा केसर की गंध जाने बिना केसर ढोता है।) सोलहवीं सदी के इस भक्त का जीवन-निरीक्षण पाठक देखें कि आज के वातावरण में भी कितना अचूक है। यहाँ उल्लेखनीय विषय है कि कवि की निर्वेद-वाणी जीवन से पलायन करानेवाली नहीं है। वह जीवन को सद्‌कर्मों से सफल बनाने की ही प्रेरणा देती है। कवि की दृढ धारणा है कि कर्म-फल से स्वयं ब्रह्म भी बच नहीं सकता।

नम्मोयोक्कयुम बंधिच्च साधनम
कर्ममेन्नरि्येंडतु मुंपिनाल
चण्डकर्मङ्ळ चेय्तवन चाकुंबोळ
चण्डाळ कुलत्तिगल पिरक्कुन्नू
कूप कूटाते पीडिप्पिच्चिट्टुन्ननृपन
चत्तु कृमियाय पिर्क्कुन्नू

(मनुष्य कर्म-बंधित है, बुरा कर्म करनेवाला राजा भी क्यों न हो कृमि-कीटकुल में ही पुनर्जन्म पायगा)

अत: नर जन्म सफल बनाने का उपाय क्या है?

सक्ति कूटाते नामंङ्ळेप्पोषुम
भक्ति पूंडु भजिक्कणम नम्मुटे-
सिद्धि कालम कषिवोळमीवण्म
श्रद्धयोटे वसिक्केण मेवरुम
काणाकुन्न चराचर जातिये
नाणम कैविट्टु कूप्पि स्तुतिक्कणम

(अनासक्ति, भक्ति, और श्रद्धा-भाव से जीवन बितावें, समस्त चराचर को समजीवी मानकर नमस्कार करें)

भक्त का यह समयोचित निर्भय जीवन-दर्शन ही "ज्ञानप्पाना" की अक्षयता का कारण है।

(2) कुमाराहरणम पाना :–

इसका और नाम संतानगोपालम भी है। यहाँ कवि का "पाना" प्रयोग एक विशेष छंद-शैली (द्रुतकाकळि) के अर्थ में हुआ है जिस में चार चरण होते हैं। यह एक सरस पौराणिक खण्डकाव्य है जिस में कवि की चित्रण-कुशलता की परिपक्वता के दर्शन होते हैं। शिशुमरण से विह्वल एक ब्राह्मण के दसवें बच्चे की रक्षा का बीडा अर्जुन उठा लेते हैं मगर अंत में विफल होकर शर्त के अनुसार अग्नि प्रवेश की तय्यारी करते हैं। ऐन मौके पर श्रीकृष्ण का आगमन होता है। कृष्ण पार्थ को लेकर स्वर्ग में बच्चों को ढूंढने जाते हैं। दसवें बच्चे से भी वंचित विक्षुब्ध ब्राह्मण का अर्जन को फटकार देना, अर्जुन की कृष्णस्मरण करके आग में कूदने की तय्यारी और स्वर्ग का अत्यधिक स्वाभाविक तथा भव्य वर्णन आदि प्रसंग विशेष आस्वादनीय हैं। ज्ञानप्पाना में अंकुरित कविता-प्रतिभा-किसलय संतानगोपालम में पूर्णतः मंजरित हुआ है।

(3) भाषाकर्णामृतम :–

इसमें कृष्णलीला विषयक भागवत् के दशमस्कंध की संक्षिप्त कथा वर्णित है। संस्कृत के विल्वमंगलम से लेकर समस्त भारतीय भाषाओं के कृष्णभक्त कवियों को दशमस्कंध जब कि आकर्षित करता रहा है तो भक्त कवि पूंतानम अपने इष्टदेव के लीला-वर्णन का सुनहला मौका भला क्यों कर छोडेंगे? मगर इसमें कृष्ण-लीला के शृंखलित वर्णन में कवि का मन उतना रमता नहीं जितना कि सुननेवालों में भक्तिभाव बढाने तथा भगवान के निकट अपने भक्ति विभोर सान्निध्य के आकांक्षा-प्रदर्शन में दृष्टिगोचर होता है। जैसे –

> एन्नोमलिङ्ङु वरिकेन्नु यशोद मेल्ले
> च्चेन्नाळ मुकर्न्नु पुतुवेण्ण कोटुप्पतिन्नाय

अन्नेरमार्तियोटेयोटि वियर्तुवीण
कण्णन्र् कातरत काण्मतुकौतुकममे

(ताज़ा माखन निकाल कर मां यशोदा ने कृष्ण को पुकारा तो मां की पुकार सुनते ही माखन के लिए हडबडाकर मां के पास दौड आनेवाले कृष्ण की आतुरता मैं देखना चाहता हूँ। इसी तरह गोधूलिवेला में गो-गोपालकों के साथ गोकुल की और मुरलीवादन सहित लौटने, शरत्चन्द्रिका की रासक्रीडा आदि अनेकों लीला वर्णनों में अपने को भी दर्शक बनाने की कामना वर्णित है। पून्तानम की यह तादात्म्य भक्ति हिन्दी के वैष्णव सगुणोपासक कवियों में भी सुलभ है। तुलसी के वर्णनों में कहीं "अवधेश के बालक चारिसदा तुलसी मन-मंदिर में विहरै" तो कहीं सूर कृष्ण के कर्ण-छेदन उत्सव का वर्णन करते-करते अंतिम चरण में कह जाते हैं कि "आगत सभी-मेहमान यहाँ तक कि ऐसे अवसर पर नाच-गान करनेवाले ढाढी-ढाढिन भी खान-पान उपहार पाकर ससंतोष लौट रहे हैं तव सूर द्वार पर खड़े होकर "माँगत जूठन।" पाठकों की अनुभूतियों को भी गाढा बनाने की इस शैली से पूंतानम का वचनामृतम केरळ वासियों का अगर कर्णामृत बन गया तो स्वाभाविक ही है।

पूंतानम के रचना-काल के समाज-संस्कार-विधान का सही अध्येता ही पूंतानम-साहित्य का सही मूल्यांकन कर सकता है। जाति और कुल महिमा-रोग ग्रस्त जिस समाज में कला-साहित्य जनसाधारण के लिए आस्वादनीय नहीं माना जाता था। उसी जन साधारण के बोच पूँतानम अपनी कविता लेकर उतर पडे थे। पामर जनों को कविता-रस का आकंठ पान कराया। आम-जनता के लिए आम जनता की भाषा में शास्त्र और उपनिषदों को उस महान भक्त कवि ने परोसा। पूंतानम की कविता व्याख्या-टीका की भूखी नहीं है। इकन्नीर (नारियल का डाब) की तरह आसानी से मुंह खोलते ही रस छलक पडता है। यही भक्त कवि पूंतानम काव्यामरता का रहस्य है।

लेखक : **श्री पी. नारायण**

अन्नमाचार्युलु

आंध्र के प्रसिद्ध वैष्णव कवियों में ताळ्ळपाक अन्नमाचार्य जी का नाम अत्यन्त आदर के साथ लिया जाता है। आंध्र में प्रायः वैष्णवा ब्राह्मणों के लिए 'आचार्य' शब्द का प्रयोग होता है। 'आचार्युलु' शब्द आदर सूचक है। अन्नमाचार्य जी अन्नमय्य, अन्नमय्यगुरु, अन्नमार्य, अन्नमाचार्य कवि भी कहे जाते हैं। ताळ्ळपाक एक ग्राम का नाम है जो कडपा जिले में है। यही नाम अन्नमाचार्य जी के वंशजों का 'घर का नाम' हुआ।

अन्नमाचार्य जी तिरुपति वेंकटेश्वर जी— बालाजी— के परम भक्त थे। तिरुपति देवस्थानम् से प्रकाशित एक ग्रंथ में कहा गया है कि अन्नमाचार्य जी का जन्म 1408 ई.- संवत् 1465 में और देहवसान 1503 ई. : संवत् 1560 : में हुआ। तिरुपति-मन्दिर में ही ऐसे ताम्रपत्र सुरक्षित हैं जिनपर अन्नमाचार्यजी के पद–कीर्तन–अंकित हैं। प्रारम्भिक पद से यह ज्ञात होता है कि 1424 ई. से अर्थात् जब उनकी आयु 16 वर्ष की थी, उन्होंने पद-रचना करना शुरु किया था। *

* "तेलुगु विज्ञान सर्वस्वमु" (Telugu Enyclopaedia) के तृतीय भाग: "तेलुगु-संस्कृति" में श्री तिम्मावज्झल कोदण्ड रामय्याजी ने लिखा है अन्नमाचार्य जी का जन्म 1424 ई. में और उनका देहावसान 1503 ई. में हुआ। (पृ. 714)

अन्नमाचार्य जी ऋक्‌शाखा, आश्वलायन सूत्र और भारद्वाज गोत्र के नन्दवरीक ब्राह्मण थे। उनके दादा वेदों के बड़े पण्डित थे। उनके वंशज पढ़े-लिखे और ख्यातिप्राप्त थे। उनके पुत्र पेद तिरुमलाचार्य, पोते चिन्नन्न, दामाद रेवणूरि कोण्डाचार्य—ये सब कवि थे। उनकी पत्नी ताळ्ळपाक तिम्मक्का भी अच्छी कवयित्री थी, जिन्होंने 'सुभद्रा-कल्याण' नामक काव्य लिखा है। चिन्नन्न ने द्विपद छंद में अपने दादा का जीवन-चरित्र लिखा है। उससे ज्ञात होता है कि अन्नमाचार्य जी अपनी 16 वर्ष की आयु में अपने गाँव छोड़कर तिरुपति चले गये जहाँ उन्होंने भगवान का कैंकर्य स्वीकार किया तथा वैष्णव धर्म भी स्वीकार किया। तभी से 'अन्नमय्य' 'अन्नमाचार्य' हुए। उनके पिता का नाम नारायण सूरि और माता का नाम लक्कमाम्बा था। बाल्यकाल में ही उनके हृदय में भक्ति का प्रादुर्भाव हुआ। भगवद्‌भक्ति से प्रेरित होकर उन्होंने भगवान वेंकटेश्वर का नाम-संकीर्तन करना शुरु किया। छुटपन में संगीत की ओर उनका सहज आकर्षण था। वे कभी-कभी गीत बनाकर गाया करते थे। वेदाध्ययन के लिए प्रसिद्ध विप्र-कुल के लोगों से उनको इस दिशा में प्रोत्साहन मिलने की संभावना न थी। बंधु-बांधवों को यह परिहासपूर्ण लगा हो तो कोई आश्चर्य नहीं। घर के लोग अन्नमय्या को कोई न कोई काम सौंपते, सदा उनसे काम कराते। संभवतः वे अपनी भाभी के व्यवहार से बहुत तंग आ गये थे। पशुओं के लिए चारा लाने भाभी उनको रोज़ खेत भेजा करती। एक दिन जब वे घास काट रहे थे तब उनकी उंगली कट गयी, उनके मुंह से भगवान का नाम निकला। तुरंत हँसिया फेंककर वे सीधे तिरुपति चल दिये। यह उनके जीवन की अति मुख्य घटना है।

भक्तों के साथ गीत गाते और भगवान का नाम-स्मरण करते हुए वे तिरुपति पहाड़ पर चढ़ने लगे। वे नहीं जानते थे कि चप्पल पहनकर पहाड़ पर नहीं चढ़ना चाहिए। 'मोकाळ्ळ पर्वत' * के पास पहुँचते-पहुँचते वे

---

* 'मोकाळ्ळ पर्वत' का शब्दार्थ होता है 'घुटनों का पर्वत': मोकाल का अर्थ है घुटना:

बहुत थक गये। आगे चलना संभव नहीं हुआ। एक शिला पर सो गये। ऐसी आत्मविस्मृति की स्थिति में उनको भगवती अलमेलु मंगम्मा के दर्शन हुए जिन्होंने यह समझाया कि चप्पल पहनकर नहीं चढ़ना चाहिए। अन्नमय्या चकित हुए, सोत्साह उठे। उनको देवी का साक्षात्कार हुआ; प्रसाद प्राप्त हुआ। तब भक्ति से परवश हो अन्नमय्या जी ने एक शतक का गायन किया। यह उनकी आशु कविता का एक उत्तम निदर्शन है। कहा जाता है कि यह शतक 'वेंकटेश्वर शतक' नाम से प्रसिद्ध है। उससे उद्धृत निम्नांकित पद्य उक्त घटना का प्रमाण-सा प्रतीत होता है—

अरिसेलु नूने बूरेलुनु नौगुलु जक्केर मंडेगल् वडल्
बुरुडलु वालमंडेग लपूपमु लय्यलमेलुमंग नी;
करुदुग विंडु वेट्टे बरमान्नशतंबुल सूपकोट्लतो
निरत विनिर्मलान्नमुल नेतुलसोनल वेंकटश्वरा।

आशय—हे वेंकटेश्वर, अलमेलु मंगम्मा ने पुआ, पूड़ियां, लड्डू-मिठाई, वडा, अंदरसाअपूप, सैकड़ों प्रकार के पायस, करोड़ों प्रकार के पूण तथा घृत सहित निर्मल अन्नों का भोज तुम्हें दिया।

अन्नमय्या पहाड़ पर पहुँच कर स्वामिपुष्करिणी में पूत स्नात हो गरुड़-स्तम्भ, विष्वक्सेन आदि के दर्शन के अनन्तर भगवान वेंकटेश्वर की सेवा में उपस्थित हुए। उनके मुँह से आशु कविता-वाहिनी निकल पड़ी, वे आत्मविस्मृत होकर भगवान का संकीर्तन करने लगे। कहा जाता है कि उनको भगवान के दर्शन हुए थे। तिरुपति-मंदिर में जो ताम्रलेख संग्रहीत हैं और जिन पर अन्नमय्या जी के पद अंकित हैं, उनमें यह स्पष्ट कहा गया है कि उनको भगवान के दर्शन प्राप्त हुए थे। उन्होंने भगवान के सान्निध्य तक पहुँचते समय तथा पहुँचने के बाद जो जो पद गाये, वे सब आशु कविता के सुन्दर उदाहरण हैं। भगवान की महिमा का वर्णन करते हुए उन्होंने 'बौलि' राग में जो पद गाया था, वह नीचे दिया जाता है—

एंत मात्रमुन नेव्वरु दलचिन अंतमात्रमे नीवु
अंतरान्तरमु लेंचिचूड, पिण्डंते निप्पटि यन्नट्लु...

कोल्तुरु मिमु वैष्णवुलु कूरिमितो विष्णुंडनि
पलुकुदुरु मिमु वेदान्तुलु परब्रह्ममनुचु
तलतुरु मिमु शैवुलु तगिन भक्तुलनु शिवुडनुचु
अलरि पोगड्डुदुरु कापालिकुलु आदिभैरवुडनुचु ॥ एंत ॥

सरि नेन्नुदुरु शाक्तेयुलु शक्तिरूपु नी वनुचु
दरिसेनमुलमिमु नाना विधुलनु तलपुलकोलदुल भरितुरु
सिरुल मिमु ने यल्पबुद्धि तलचिनवारिकि नल्पं बवुदुवु
गरिमल मिमुने घनमनि तलचिन घनबुद्दुलकु घनुडवु ॥ एंत ॥

नी वलन कोरत लेदु मरि नीरुकोलदि तामरवु
आवल भागीरथी बावुल आ जलमे वूरिनयट्लु
श्रीवेंकटपति नीवैते-चेकोनि उन्नदैवमनि
ईवलने नी शरणनियेद निदिये परतत्वमु नमाकु...

आशय—जो जितने परिमाण में अर्थात् जिस भांति तुम्हारा स्मरण करते हैं, उतने परिमाण में अर्थात् उसी भांति तुम हो, जैसा कि कहते हैं कि जितना आटा है उतनी रोटी है। वैष्णव लोग विष्णु कहकर सप्रेम तुम्हारा भजन करते हैं। दार्शनिक लोग परब्रह्म कहते हैं। शैव लोग शिव कहकर तुम्हारा स्मरण करते हैं। कापालिक लोग आदिभैरव कहकर सुमन से प्रशंसा करते हैं। शाक्तेय लोग तुम्हें ही शक्ति रूप मानते हैं। नाना प्रकार से तुम्हारे दर्शन, स्मरण, भजन करते हैं। जो गर्वीले लोग तुम्हें 'अल्पबुद्धि' समझते हैं, उनके लिए तुम अल्प हो। जो लोग तुम्हें घन समझते हैं, उनके लिए तुम घन अर्थात् महान हो। तुममें कोई न्यूनता नहीं है, जितना जल है उतना कमल। जैसा कि कूप का जल ही भागीरथी हो जाता है। श्रीवेंकटपति, तुम्हीं इष्ट दैव हो, ऐसा मानकर यहीं से मैं कहूगा कि तुम्हारी शरण है, यही मेरे लिए परतत्व है।

यह पद ऐतिहासिक महत्व रखता है। 'यादृशी भक्तिः तादृशी भक्तिः' और—

एको विष्णुर्महद्भूतं पृथग्भूतान्यनेकशः ।
त्रींल्लोकान्व्याप्य भूतात्मा भुङ्क्ते विश्वभुगव्ययः ।।

का तत्व इसमें प्रतिपादित है । कर्नाटक के प्रसिद्ध बेलूर चेन्नकेशव मन्दिर में निम्नांकित श्लोक है जो ऊपर उल्लिखित पद से मिलता-जुलता है—

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो
बौद्धा वुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः ।
अर्हन्तश्चेति जैनशासनमतिः कर्मेति मीमांसकाः
सोऽयं वो विदधातु वांछितफलं श्री केशवः सर्वदा ।।

अन्नमय्या उन भाग्यशाली भक्तों में हैं जिन्होंने नाम-संकीर्तन से अपने इष्टदेव को प्रसन्न कर उनके दर्शन प्राप्त किये थे। तिरुपति-मन्दिर के अधिकारियों तथा शठकोप यति को उनके व्यक्तित्व ने आकर्षित किया। शठकोप यतींद्र से उन्होंने दीक्षा ग्रहण की और 'अन्नमाचार्य' हुए। यह ज्ञात नहीं कि वे कितने दिन ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए तिरुपति में रहे। पुत्र का अन्वेषण करती हुई जब उनकी माता आयी, तब वे निज गुरु की आज्ञा तथा स्वप्न में प्रदत्त भगवान् की आज्ञा के अनुसार माता के साथ ताळ्ळपाक वापस गये। वहाँ उन्होंने गृहस्थाश्रम स्वीकार किया, एक नहीं दो विवाह किये। उनकी पत्नियों के नाम हैं—तिरुमलम्मा अथवा तिम्मक्का और अक्कलम्मा। गृहस्थ-जीवन का अनुभव करते हुए उन्होंने अहोबल, तिरुमल आदि तीर्थ स्थानों की यात्रा की एवं अनेक पद बनाये। कहा जाता है कि पदों में ही उन्होंने रामायण की भी रचना की थी।

अन्नमाचार्युलु के पदों में वह जादू था कि लोग सहज ही उनकी ओर आकर्षित हो जाते। उनकी कीर्ति टंगुटूर के अधिपति साळव नरसिंहराय तक पहुँची, 1450 ई. में विजयनगर के सामंत राजा थे। नरसिंहराय उनसे मिले और उनके आशिष से ही 1487 ई. में पेनुगोण्ड में राज्याभिषिक्त हुए। बाद में वे विजयनगर के सिंहासनाधीश्वर भी हुए। राज्याकांक्षा कितनी प्रबल होती है और तदर्थ लोग कैसे-कैसे तुच्छ कार्य करते

हैं. यह अन्नमाचार्य जी ने अपनी आंखों से देखा था। यही कारण है कि उन्होंने अपने एक पद में कहा था 'डरता हूँ, डरता हूँ, मैं ऐसी तुच्छ मति से जो कभी न हो।' अन्नमाचार्य जी के ही समकालीन महाकवि पोतना ने भी अपने भागवत में तत्कालीन राजाओं के क्रौर्य-जीवन का वर्णन किया है।

यह तो सही है कि अन्नमाचार्य जी के साथ नरसिंहराय का मैत्री का संबंध था। परन्तु वे अहं से दूर नहीं थे। एक दिन अन्नमाचार्य जी के मुंह से भगवान की श्रृंगार-लीला संबंधी पद सुनकर उन्होंने अन्नमाचार्य जी से कहा कि कुछ ऐसे पद मेरे संबंध में भी बनाओ। तब आचार्य जी ने ललित राग में यह पद पाया—

मुरहरु पदमुल म्रोक्किन शिरमु
परुल वंदनकु परगदु शिरमु।
नरहरि कीर्तन नानिन जिह्व
ओरुल नुतिपग नोपदु जिह्व

नरहरि का कीर्तन करने वाली जिह्वा दूसरों की स्तुति नहीं कर सकती। मुरहर के चरणों में वन्दित होने वाला सिर दूसरों का वन्दन नहीं कर सकता।

आंध्र-महाभागवत् के प्रणेता महा भक्त पोतना ने भी, जो प्राकृत जन गुणगान के विरोधी थे, ऐसा ही भाव व्यक्त किया है—

कमलाक्षुनर्चिचु करमुलु करमुलु श्रीनाथु वर्णिचु जिह्व जिह्व
सुररक्षकुनि जूचु चूड्कुलु, चूड्कुलु शेषशायिकि म्रोक्कु शिरमु शिरमु
विष्णुनाकर्णिचु वीनुलु, वीनुलु मधुवैरि दविलिन मनमु मनमु
भगवंतु वलगोनु पदमुलु पदमुलु, पुरुषोत्तमुनि मीदि बुद्धि बुद्धि

देवदेवुनि जिंतिचु दिनमु दिनमु
चक्रहस्तुनि ब्रकटिंचु चदुवु चदुवु

कुंभिनीधवु जेप्पेडि गुरुडु गुरुडु
तंड्रि हरि जेरुमनियेडि तंड्रि तंड्रि ॥

कमलाक्ष का अर्चन करनेवाला कर ही कर है, श्रीनाथ का वर्णन करनेवाली जिह्वा ही जिह्वा है, सुररक्षक को देखनेवाली दृष्टि ही दृष्टि 'नेत्र' है, शेषशायी को नमस्कार करनेवाला सिर ही सिर है, विष्णु के नाम को सुननेवाले कान ही कान हैं, मधुवैरि में लगा मन ही मन है भगवान के पास ले चलनेवाले पद ही पद हैं, पुरुषोत्तम पर लगी बुद्धि ही बुद्धि है, देवदेव का चिंतन जिस दिन किया जाता है वही दिन है, वही गुरु है जो भगवान को पाने का मार्ग बतलाता है, वही पिता है जो अपने पुत्र को हरि को प्राप्त करने की शिक्षा देता है।

गर्व-मदांध राजा भक्त कवियों के मुंह से ऐसी बातें कब सुन सकते हैं। नरसिंह राय भी अन्नमाचार्य जी के मुंह से ऐसी बातें नहीं सुन सके। क्रोध से उद्रिक्त होकर उन्होंने अन्नमाचार्य जी को मूरुरायर गण्ड नामक जंजीर बंधवाकर कारागृह में डाल दिया। परन्तु अन्नमाचार्य जी विचलित नहीं हुए कारागृह में उन्होंने भगवान का गणगान किया, मखारि राग में वे गाने लगे—

आकटि वेळल नलपैन वेळलनु तेकुव हरि नाममे दिक्कु मरि लेदु
कोरमालि वुन्न वेळ कुलमु चेडिन वेळ चेरवडि वोरलुचे जिक्किन वेळ
वोर पैन हरिनाममोक्कटे गतिगाक मरचि तप्पिन नैन मरि लेदु तेरगु
नारद वच्चिन वेळ नारडि बडिन वेळ पापपु वेळ भयपडिन वेळ
वोपिनंत हरि नाममोक्कटे गतिगाक मूपुदाका बोरलिन मरि लेदु तेरगु
संकेल बेट्टिन वेळ चंप विलिचिन वेळ अंकिलिगा नप्पुलवारागिन वेळ
वेंकटेशु नाममे विडिपिंच गतिगाक मंकु बुद्धि बोरलिन मरि लेदु तेरगु।

आशय—भूख के समय, विक्षुब्ध स्थिति में साहस देनेवाला हरि ही है, वही शरण्य है, अन्य कोई नहीं। व्यर्थ के समय, जब कुल नष्ट हुआ हो तब, बंदी बनकर जब दूसरों के वश में हो गये हों तब, एक हरि नाम

ही की गति है, उसे भूलने से कोई मार्ग नहीं। विपदा के समय हो या कुयश के समय, पाप के समय हो या भय के समय एक हरि नाम ही रक्षक है,: जमीन पर: लोटने-पोटने से भी कोई लाभ नहीं। जब जँज़ीर बाँधी गयी हो, जब मृत्युदण्ड देने के लिए बुलाया गया हो, जब ऋणदाता तंग कर रहे हों तब वेंकटेश नाम ही विमुक्ति दिलाने में समर्थ हैं, मंद बुद्धि से लोटने-पोटने से कोई लाभ नहीं है।

अन्नमाचार्य जी का गाना समाप्त होते-होते अपने आप जँज़ीर नीचे गिर गयी। सेवकों से इस आश्चर्यजनक घटना का समाचार पाकर नर-सिंह राय पश्चात्ताप से तप्त हुए। उनके नेत्र खुले। वे अन्नमाचार्य जी के शरणागत हुए।

यह गाथा कपोल कल्पित नहीं है, ऐतिहासिक सत्य । इसके लिए साक्षी हैं आचार्य जी के वे पद जो इसके सर्वथा अनुकूल । हां, उक्त घटना की तिथि के विषय में मतभेद संभव है।

अन्नमाचार्य जी को नरसिंह राय से 'अग्रहार' : अर्थात् भूमि-दान-भी प्राप्त हुआ होगा। क्योंकि शिलालेखों से ज्ञात होता है कि आचार्य जी के पुत्र पेद तिरुमलाचार्य ने तिरुपति वेंकटेश्वर जी को अनेक अग्रहार समर्पित किये थे।

अन्नमाचार्य जी नरेश नरसिंह राय के यहाँ कुछ समय रहे; तत्पश्चात वे तिरुपति ही में रहे। उनके जीवन का अधिक काल तिरुपति में ही व्यतीत हुआ। निरंतर भगवान की सेवा करते हुए उन्होंने कई पदों की रचना की। भक्त प्रवर सूरदास के समान वे भगवान की कीर्तन-सेवा करते थे। पूजा के विभिन्न समयों में वे नाम-संकीर्तन करते थे ऐसा एक पद यहाँ उदाहृत किया जाता है—

दाचुकोनि पादालकु तग ने जेसिन पूज लिवि
पूचि नी कीरीति रूपु पुष्पमु लिवियय्या
ओक्क संकीर्तन चालु वोद्दिकै मम्मु रक्षिचग
तक्किनवि भंडारान दाचि उंडनी

वेक्कसमु नी नाममु वेल सुलभमु फलमधिकमु
दिक्कै नन्नेलितिविक नवि तीरनि ना धनमय्या...

आशय—हे भगवन्, तुम्हारे योग्य संचित ये पूजाएं हैं, ये विकसित पुष्प हैं। एक संकीर्तन : अर्थात् पद : ही हमारी रक्षा करने में समर्थ है। शेष भाण्डागार में रहे तो रहे। तुम्हारा नाम कम मूल्य का है, पर अधिक फल देनेवाला है। नाथ होकर तुमने मेरी रक्षा की, वही मेरा अपार धन है प्रभो।

कर्नाटक के प्रसिद्ध वैष्णव भक्त कवियों में पुरंदरदास का नाम अत्यंत आदर के साथ लिया जाता है। वे पाण्डुरंग विठ्ठल के परम भक्त थे। उनके पद इतने प्रसिद्ध और अमूल्य हैं कि वे "पुरंदरोपनिषद्" नाम से लोकप्रिय हुए हैं। ज्ञात होता है कि अन्नमाचार्य और पुरंदरदास की भेंट हुई थी। कहा जाता है, कि जब पुरंदरदास जी ने यह सुना कि अन्नमाचार्य जी के पदों के श्रवण करने मात्र से भूत-पिशाचादि भाग जाते हैं और शुभ फल प्राप्त हो जाता है, तब वे आचार्य जी के दर्शन के लिए गये तथा उनकी प्रशंसा की कि आप साक्षात् विष्णु ही हैं। आचार्य जी ने भी पुरंदरदासजी की यह कहकर स्तुति की कि आप पाण्डुरंग विठ्ठल ही हैं। चिन्नन्न ने इस घटना का उल्लेख किया है। पुरंदरदास जी आचार्य जी से कम प्रभावित नहीं हुए थे। इसके लिए साक्षी उनके पद ही हैं। उनके पदों में यत्र-तत्र आचार्य जी के पदों की छाया दिखाई पड़ती है।

उदाहरणार्थ 'मालवि राग' वाली इन पंक्तियों को देखिए—

शरणु शरणु सुरेंद्र सन्नुत शरणु श्रीसतिवल्लभा
शरणु राक्षस गर्व संहार शरणु वेंकटनायका··· अन्नमाचार्य

शरणु शरणु सुरेंद्रवन्दित शरणु श्रीपति सेवित
शरणु पार्वतीतनय मारुति शरणु सिद्धिविनायक·

यह कहा गया है कि अन्नमाचार्य जी ने प्रसिद्ध तीर्थ स्थानों के दर्शन किये थे। वे वेंकटेश्वर के परम भक्त थे, अपने इष्टदेव पर उन्होंने कई पद गाये हैं। अतिरिक्त इसके उन्होंने अहोवल नारसिंह, श्री रंगनाथ, विद्यानगर के विठ्ठलेश्वर पर भी पद रचे हैं।

अन्नमाचार्य जी की महिमा के संबंध में भी कई बातें कही जाती हैं। किंवदन्ति है कि उनकी भक्ति की महिमा से आम के वृक्ष के खट्टे फल मीठे हो गये। यह कहा जाता कि उनके आशीर्वचन सच निकलते थे।

अन्नमाचार्य जी के पदों की संख्या 32000 बतायी जाती है। ये पद तेलुगु और संस्कृत दोनों भाषाओं में हैं। उनकी समस्त रचनाओं को दो श्रेणियों में रख सकते हैं—1. संस्कृत रचनाएँ तथा 2. तेलुगु रचनाएँ। संस्कृत रचनाओं के अतर्गत 'वेंकटाचल माहात्म्य' और 'संकीर्तन–लक्षण' के नाम लिए जाते हैं। किन्तु ये दोनों ग्रंथ आज उपलब्ध नहीं हैं। अन्नमाचार्य–चरित्र में कहा गया है कि 'दिव्य भाषा में वेंकटाद्रि माहात्म्य पूर्णतः रचकर।' वराह पुराण के अंतर्गत का भाग 'वेंकटाचल माहात्म्य,' जिसका प्रचार आंध्र में है, अन्नमाचार्य जी की रचना हो सकती है, ऐसा अभिप्राय भी व्यक्त हुआ है। परन्तु निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

"संकीर्तन–लक्षण" लक्षण ग्रंथ है। चिन्नन्न के कथन से ज्ञात होता है कि उनके दादा ने संस्कृत में 'संकीर्तन–लक्षण' ग्रंथ रचा था, जिसकी व्याख्या उनके पिता पेदतिरुमलाचार्य ने लिखी थी। उसका अनुसरण करते हुए चिन्नन्न ने तेलुगु में 'संकीर्तन-लक्षण' लिखा।

अन्नमाचार्य जी की तेलुगु रचनाओं में प्रथमतः 'द्विपद रामायण' का नाम आता है। उनके जीवन-चरित्र से ज्ञात होता है कि उन्होंने वाल्मीकि-रामायण का पद-शैली में अनुवाद किया था, यही 'द्विपद रामायण' है या नहीं स्पष्टतः नहीं कह सकते। आज उनकी यह रचना उपलब्ध नहीं है।

'शृंगार-मंजरी' उनकी दूसरी तेलुगु-कृति है। भाषा तथा भाव की दृष्टि से रमणीय यह रचना मंजरी छंद में रचित है। मंजरी गाने के द्वारा आचार्य जी ने भगवान का अनुग्रह प्राप्त किया था।

इसके पश्चात् शतकों के नाम आते हैं। कहा जाता है कि आचार्य जी ने बारह शतक लिखे थे, जिनमें केवल 'वेंकटेश्वर शतक' प्राप्त है। इस शतक का नामोल्लेख हम पहले भी कर चुके हैं।

'वेंकटेश्वर-शतक' का प्रारम्भिक पद्य इस प्रकार है—

श्रीसति नील, जाम्बवति, श्रीयमुना सति, सत्यभाम, धात्री
सति, रुक्मिणी रमणि, देवियिला सति वीर लंदरुन्
जेसिन सेव जेसेदनु जेकोनु श्रीयलमेलुमंग नी
मूसिन मुत्यमै युरमु मुंगट जेंगट वेंकटेश्वरा।

आशय—श्रीसती नीला, जाम्बवती, श्री यमुना, सत्यभामा, धात्री, रुक्मिणी, इलादेवी—इन सब ने जो सेवा की है, वह मैं करूँगा, स्वीकार करो हे वेंकटेश्वर, जब कि श्री अलमेलुमंगम्मा तुम्हारे छिपे मोती के समान सम्मुख हो।

अन्नमाचार्य जी ने यह शतक माता अलमेलुमंगम्मा के नाम से बनाया था, यह बात नीचे के पद्य से ज्ञात होती है—

अम्मकु दाल्लपाक घनु डन्नडु पद्यशतम्बु जेप्पे गो
कोम्मनि वाक्प्रसूनमुल गूरिमितो नलमेलुमंगकुन्
नेम्मदि नीवु चेकोनि यनेक युगम्बुलु ब्रह्मकल्पमुल्
सम्मद मंदि वर्धिलनु जव्वन लीलल वेंकटेश्वरा।

आशय—उस दिन ताल्लपाक अभिजन ने माता अलमेलुमंगम्मा पर सप्रेम पद्य शत रचे, ताकि वे इन वाक् प्रसूनों को ग्रहण करें। हे, वेंकटेश्वर, इसे स्वीकार कर अनेक युग, ब्रह्मकल्प तक यौवन-लीला करते हुए प्रवर्द्धित होओ।

"शृंगार-मंजरी" में नायिका-भाव का अत्यंत सुंदर अभिव्यंजन हुआ है। वह द्विपद काव्य है। श्री वेंकटेश्वर पर एक बाला के प्रेम का वर्णन उसमें किया गया है। उस कोमलांगी का मन जब वेंकटेश्वर पर मोहित हो जाता है, तब उसको विरह का अनुभव होने लगता है जिसको कवि ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

> कांचदु प्राणम्बु गुरुतुगा जेसि, येंचदु वीण वायिंचदु परिण-
> मिंचदु मदि संभ्रमिंचदु चेलिय, किंचुकेनियु सयिंचदु गानि
> कप्पदु चनुदोयि कनुग्रेव रेप्प, विप्पदु तन प्राणविभु मीदि मनसु
> त्रिप्पदु मदिलोन दीकोन्न प्रेम, चेप्पदेव्वरितोड, जेप्पुनो गानि
> पेट्टदु कस्तूरि पेकोंनि चेत, बट्टदु सेवन्तिबंति नेत्तम्मि
> मुट्टदु सिग्गुल मोद लिंचुकैन, बुट्टदु तल पेन्दु बुट्टुनो गानि।

आशय—वह निज वश में नहीं है, वीणा नहीं बजाती है, उसके मन पर अन्य का प्रभाव नहीं पड़ता, वह अपनी सखियों से कुछ नहीं कहती भले ही स्वयं विरह-ताप सहने में असमर्थ क्यों न हो। वह अपने आँचल को संभालती नहीं है, पलकें खोलती नहीं है, अपने प्राणप्रिय पर लगे मन को बदलती नहीं है, अपने प्रेम को किसी से कहती नहीं है, जाने किससे कहती है। कस्तूरी तिलक नहीं लगाती है, सेवन्तिकादि पुष्प ग्रहण नहीं करती है। किंचित लाज की भी परवाह नहीं करती, न जाने क्यों मन में प्रेम उत्पन्न होता है।

उस बाला पर भगवान् वेंकटेश्वर ने करुणा की। इसका चित्रण देखिए—

> चिट्टंटु चेतल सेदलु दीर्चि, चेदरिन यलकल चिक्केल्ल दीर्चि
> येडलेनि पुलकल यिपु पुट्टिंचि, कलल मर्मंबुल कड गानुपिंचि
> यालिंगनादि सौख्यमुल नंदिंचि, करगिंचि मरगिंचि कोलेकि गाविंचि
> युडिवोनि सुरताब्धि नोललाडिंचि, चित्तज साम्राज्य सिंहासनमुन
> बालिका रत्नंबु बट्टंबु गट्टि........................।

आशय--उन कोमल हाथों की थकावट दूर कर, बिखरी अलकावली को ठीक कर, निरंतर पुलक उत्पन्न कर, कलाओं की परम मार्मिकता की अनुभूति करा कर, आलिंगनादि सुख प्रदान कर, नाना हाव-भाव चेष्टाओं में उल्लसित कर, पास लेकर सुरताब्धि में किलोलें लेने देकर चित्तज-साम्राज्य-सिंहासन पर उस बाला रत्न का राजतिलक कर...... ।

अन्नमाचार्य शृंगार का वर्णन करने में जितने सिद्धहस्त हैं, उतने ही कुशल हैं वैराग्य का निरूपण करने में भी । उदाहरणार्थ—

> ची ची वो बदुकन सिग्गुलेनि बदुका
> वाचविकि वतिमालि वडबड्ड बदुका ।। टेक ।।
>
> भोगिंच वेल कद्दु पोद्दुवनेडपु गुंकुनु
> वेगमे हरि दलच वेळ लेदु,
> वोगुल लंपटमुन कोपि केंतैन कद्दु
> योगपु सत्कर्मनिकोक यित लेदु
> मदि श्री वेंकटेशुडु मम्मु निट्टे काचेगानि
> पदरि ना नेरमुलु पाप मरि लेदु ।

आशय—हाय ! हाय ! लज्जाहीन जीवन ! लालसा से कर्षित हुआ यह जीवन ! सुख–भोग के लिए समय है, हरि का नाम-स्मरण करने के लिए समय नहीं है । बुराई और लंपटता के लिए तो समय बहुत है, किन्तु योगादि सत्कर्म के लिए समय नहीं है । श्री वेंकटेश ने हमारी तो रक्षा की, पर भीति से मेरे पाप कम नहीं हुए हैं ।

'बौली' राग में गाया जाने वाला यह पद देखिए—

> एक्कडि मानुषजन्मंबेत्तिन फलमेमुन्नदि
> निक्कमु निन्ने नम्मिति नी चित्तंबिकनु...
> मरवनु आहारंबुनु, मरवनु संसार सुखमु
> मरवनु यिंद्रिय भोगमु, माधव नी माय...

तगिलेद बहु लंपटमुल, तगिलेद बहु बंधंबुल
तगुलुनु मोक्षपु मार्गमु, तलपुन येंतैना
अगपडि श्री वेंकटेश्वर अंतर्यामि वै
नगि नगि ननु नी वेलिति नाका नी माय...

आशय—दुर्लभ मनुष्य जन्म लेने से भी क्या लाभ? पूर्ण रूप से तुम्हीं पर मेरा विश्वास है। अब जैसी तुम्हारी इच्छा। मैं आहार ग्रहण करना नहीं भूलता, सांसारिक सुख-भोग नहीं भूलता, इंद्रियों का भोग नहीं भूलता, माधव, तुम्हारी माया! लंपटता में फंस जाता हूँ, अनेक बंधनों में फंस जाता हूँ, पर मोक्ष का मार्ग तो, मन में वह विचार आता ही नहीं है। हे वेंकटेश्वर, तुम अंतर्यामी हो, सप्रसन्न तुम मुझ पर राज्य करते हो, तुम्हारी माया अपार है:

निम्नांकित पद में उन्होंने कैसी गरिमामय भावना का अभिव्यंजन किया है, यह देखने योग्य है—

ऊरुलेनि पोलमेर पेरुपेंपु लेनि ब्रदुकु
गारवंबु लेनि प्रियमु कदिय नेटिके।

उंडरानि विरहवेदन वुंडनि सुरतसुख मेल
यंडलेनि नाटि नीड येमि सेयने
दण्डिकलुगु तमक मनेटि दण्ड लेनि तालिमेल
रेण्डु नोक्कटि गानि रचन प्रियमु लेटिके।

मेच्चु लेनि चोट येंत मेलु कलिगि नेमि शेलवु
मच्चिक लेनि चोट मंचि माट लेटिकि
पेच्चु पेरग लेनि चोट ब्रियमु गलिगि येमि फलमु
इच्छ लेनि नाटि सोबगु लेमि सेयने।

बोंकु लेनि चेलिमि गानि बोंदु लेल मनसुलोन
शंक लेक गदियलेनि चनुवु लेटिके।

कोंकु कोसरु लेनि मंचि कूटमलरनिट्लगूडि
वेंकटाद्रि विभुडु लेनि वेडु केटिके ।

आशय—बस्ती के बिना सरहद्द का, नाम-यश के बिना जीवन का, प्रेम के बिना प्रेम-व्यवहार का क्या प्रयोजन है ? ऐसा विरह-दुःख जो नहीं रहता और ऐसा सुरत-सुख जो स्थिर नहीं है, किस काम का ? धूप जहाँ न हो वहां छाया किसलिए ? रव रहित डांडी, दण्ड विहीन सहनशीलता या प्रेम किस काम का ? जहाँ आदर न हो वहाँ कितनी ही भलाई हो, उससे क्या होता है ? जहाँ लाड-प्यार नहीं, वहाँ मात्र अच्छे वचनों से क्या होता है ? जहां आदर-सत्कार नहीं वहां प्रियता से क्या फल ? इच्छा रहित सौन्दर्य किसलिए ? मित्रता तो वही, जहां असत्य न हो, सच्ची मित्रता हो तो मन में गांठ क्यों हो ? निश्शंक व्यवहार संभव न हो तो ऐसे स्थान में स्वतंत्रता से भी क्या होता है ? बिना झिझक के वेंकटाद्रि प्रभु से लीला-विनोद नहीं कर सकते तो ऐसा लीलाविनोद ही क्यों ?

अन्नमाचार्यजी के पदों में स्त्रियों के हाव-भावों तथा स्वभाव का अच्छा चित्रण मिलता है । यह चित्रण उनके व्यक्तिगत जीवन के अनुभवों से भी संबंधित हो सकते हैं । यहां ये पंक्तियां उद्धृत की जा सकती हैं—

अलुगक कूटमि चवि गादनुचु पलिकेवु नी–
वलुगक प्राणमु लेमौनो यामीदट मेलेव्वरिकिरा...

तुमने कहा कि क्रोध के बिना मिलनमें स्वाद नहीं, तुम क्रोध न करो तो न जाने प्राण क्या हो जाएँगे, तत्पश्चात् भलाई किसकी...

और—

आडवारु कडु कोपु लगुट नी वेरगवा
नेडु कोत्तलुगा भूमि नेर्चुक वच्चारा...

गुनिसि सवतुल पै कोपान पति नंटेनु
विनि नव्वकुण्डेवाडु विभुडा वाडु...

पायरानि यट्टित्रारु बलुमुलु चूपितेनु
सायाल बेट्टेडिवाडु नाथुडा वाडु...

ईयेड श्री वेंकटेश यिति निट्टे कूडितिवि
चायकु राकुण्डुवाडु सरसुडा वाडु...

आशय—अंगनाएँ अधिक क्रुद्ध हो जातीं हैं, क्या यह तुम नहीं जानते ? क्या आज वे क्रोध करना नये ढंग से सीखकर आयीं ? सौतों का कोप पति पर प्रकट होता है, इसे जानकर जो हँस नहीं देता, वह क्या विभु है ? क्या वह नाथ है जो दूर न होने वाले भाव को और भड़काता है ? श्री वेंकटेश यहां तुम नारी से मिले, रंगरूप न जाननेवाले क्या रसिक कहलाते हैं ?

अन्नमाचार्य जी के पदों में शृंगार की अभिव्यंजना होने पर वह शृंगार साधारण कोटि का नहीं माना जाना चाहिए। वह माधुर्य भक्ति की श्रेणी में आने वाला है। स्वयं नायिका बनकर 'देव रहस्य' समझने वाले भक्त के रूप में अन्नमाचार्य हमारे सामने आते हैं। अलमेलु मंगम्मा के परिपार्श्व में अपने ही विविध भावों को, हृदय की आकुलता-कातरता को प्रकट किया है।

यह ऊपर कहा गया है कि अन्नमाचार्य जी के पदों की संख्या 32000 है। तमिल में आलवारों द्वारा रचित नालायिर प्रबंधम् अर्थात् चार हज़ार संकीर्तन-पद-प्रसिद्ध हैं। अन्नमाचार्यजी ने जो पद रचे हैं वे उतने ही महत्व के हैं। उनको 'आंध्र वेद' कहते हैं। उनके पदों में उज्ज्वल रसानुभूति के तत्व विद्यमान हैं एवं शरणागति का महत्व-प्रतिपादन हृदय को आकृष्ट करने वाला है। उन पदों में लोक-नीति, धर्म-प्रबोध, भूत-दया आदि विशेषताओं के साथ कर्नाटक संगीत का वैभव, भाषा की सरस-सुकुमार-सुरभि, शैली की प्रभावशीलता और रुचिरता एवं वेदान्त-इतिहास-पुराणादि का सार विद्यमान है। वर्ण्य विषय को दृष्टि में रखकर उनके पदों को हम तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं— 1. लीला-पद—जिसके

अन्तर्गत कृष्णलीला आदि प्रसंग आते हैं। 2. माधुर्य भक्ति से संबंधित पद–इन पदों में श्री वेंकटेश्वर और अलमेलु मंगम्मा की लीला का वर्णन है। 3. विनय के पद–इन पदों में भगवान के प्रति भक्त की विनय की पुकार है। इसके अन्तर्गत ही आध्यात्मिक विचारों से संबंधित पद आ जाते हैं।

श्रीकृष्ण की बाल लीलाओं का आचार्य जी ने अत्यंत मधुर वर्णन किया है। मल्हार का यह पद पर्याप्त लाकप्रियता प्राप्त कर चुका है––

जो अच्युतानंद जो जो मुकुंदा
रावे परमानंद राम गोविंद
नंदु निंटनु जेरि नयमु मीरंग
चंद्रवदनलु नीकु सेव चेयंग
अंदमुग वारिड्ल नाडुचुंडंग
मंदलकु दोंगवा मा मुद्दु रंग...

आशय:–– हे अच्युतानंद, हे मुकुंद, हे परमानंद, हे राम, हे गोविंदा आवे तेरे पास निंदरिया। नंद के घर में पैदा होकर, तूने असीम लीला की है। चन्द्रमुखी स्त्रियाँ तेरी सेवा करती हैं। उनके घरों में क्रीडा करता रहता है, लीला क्या तू बाल-समूह का चोर है?

श्रीकृष्ण की चोरी की प्रवृत्ति का उद्घाटन करने वाला यह पद

गुरुतेरिगिन दोंग, कूगुगु, वीडे
गुरिलोने दागीनि, कूगुगु
नेलतल दोचीनि नीळ्ळाडगाने
कोलनि दरिनि दोंग कूगुगु
बलुवैन उट्ल पालारगिंचीनि
कोलदि मीरिन दोंग, कूगुगु...

आशय:—जान-पहचान का चोर यही है, अहा लक्ष्य में ही छिप गया, अहा जल-विहार करते समय तट पर नारियों को लूट लिया, अहा भारी छीके पर रखा दूध पीने वाला परम चोर यही है।

'चंदमाम रावो, जाबिल्लि रावो...' पद, जो अन्नमाचार्य जी की सुकीर्ति का एक निदर्शन है, आंध्र में अत्यंत लोकप्रिय है। 'गोपी-कृष्ण संवाद' का उदाहरण इस पद में द्रष्टव्य है—

कृष्ण—वद्दे गोल्लेता, वदलकुवे : नहीं री गोपिका, छोड़ मत :

गोपी—नी मुद्दु मुद्दु माटलकु मोक्केमया : तुम्हारी मीठी मोठी बातों के लिए नमस्कार :

कृष्ण—याले याले याले गोल्लेता : क्यों, क्यों, क्यों री गोपी
नाला गेरुंगवा नन्नु नेचेवु क्या मुझे ठीक-ठीक नहीं पहचानती :

गोपी—चालुनु चालुनिक नी रचनलु : बस, बस, बस तुम्हारी बातें
गोलवु बोंकुलु पोवय्या झूठी सब, जाओ जाओ बाबा

कृष्ण—रावा रावा रावा गोल्लेता : नहीं आएगी, नहीं आएगी री
श्रीवेंकटगिरि चेलुवुण्डने मैं वेंकटगिरि-शोभा हूँ :

गोपी—नीवे नीवे नन्नु निंचिति कवुगिंट : तुम्हीं ने मुझे अपने आलिंगन
कैवसमयितिनि गदवय्या के वश में कर दिया है न !

अन्नमाचार्यजी न केवल संगीत के आचार्य थे, अपितु उन्होंने लक्षण ग्रंथ की भी रचना की थी। यह उनकी सबसे बड़ी विशेषता है कि उन्होंने संस्कृत में भी पद-कीर्तन रचकर उन्हें लक्ष्य के रूप में प्रस्तुत किया। एक पद उदाहरण के रूप में दिया जाता है—

: मखारि राग :

जानाम्यहं ते सरस लीलां
नानाविध कपट नाटक सखत्वम् ।। टेक ।।
किं करोमि त्वां कितव परकान्ता न-

खांकुरप्रकटनमतीव कुरुषे
शंकां विसृज मम सर्वं नकरुणं
किं कारणं ते खेलनमिदानीम् ॥

किं भाषयसि मां कितव मानसतया
डांबिकतया विडंबयसि किं
गांभीर्यमावहसि कातरत्वेन तव
संभोग चातुर्य सादरतया किम् ॥

किमिति मामनुनयसि कृपण वेंकटशैल
रमण भवदभिमतसुरतमनुभव–
प्रमदेन मत्प्रियं प्रचुरयसि मानहर
ममतया मदन निर्माता न किं त्वम् ॥

खण्डिता नायिका का वर्णन उक्त पद में है। अधो लिखित पद में यह कहा गया है कि हरि–नाम–संकीर्तन से बढ़कर सुखद वस्तु अन्य नहीं है। उसका विरोधी सुख सुख नहीं है। वही इह तथा 'पर' का साधन हैं। संसार–दुरित–जाड्य से दूर करनेवाला तो वही है—

एवं शृतिमतमिदमेव त–
द्भावैतु मत: परं नास्ति ॥ टेक ॥

अतुलजन्मभोगासक्तानां हितवैभवसुखमिदमेव
सततं श्रीहरिसंकीर्तनं तद्यतिरिक्तसुखं वक्तुं नास्ति ।
बहुलमरणपरिभवचित्तानां इहपरसाधनमिदमेव
अहिशयनमनोहरसेवा तद्विहरिणं विना विधिरपि नास्ति
संसारदुरितजाड्यपराणां हिंसाविरहितमिदमेव
कंसान्तक वेंकटगिरिपते: प्रशंसैव पश्चादिह नास्ति ॥

रम्य उब्दों का प्रयोग कर मार्मिक रीति से भाव व्यक्त करने में अन्नमाचार्य जी सिद्धहस्त हैं। यहाँ उदद्धृत पद में ऐसा लगता है कि शब्द नाच रहे हैं—

तता तिगुडि दिंध्रितक दिंधि
ति त्ति तित्तिति तिति तित्ति ॥
दानव वदन वितान दान सं–
दानरुधिर निज पानमिदं
नानाभूत गणानां गानं
दीनजनानां तितिति तिति।

+ + +

तिरूवेंकटगिरि देवनिधानं
परमामृत रसभाग्यमिदं
करूणावरणं कमालघटनं
तिरां तिरां तित्तिति तिति तित्ति।

भाव स्पष्ट है :—

विशिष्टाद्वैत के तत्वों को प्रकट करने वाले पद भी हमको अनेक संख्या में मिल जाते हैं। भगवान का नाम सब लोगों को तारने में समर्थ है। कोई भी भगवान का नाम–संकीर्तन कर सकते हैं, उच्च-नीच का भेदभाव यहाँ व्यर्थ है—

तंदनान अहि तंदनान पुरे
तंदनान भला तंदनान ॥ टेक ॥
ब्रह्म मोकटे परब्रह्म मोकटे पर–
ब्रह्म मोकटे परब्रह्म मोकटे।
कंदुवगु हीनाधिकमुलिदु लेवु
अंदरिकि श्रीहरि अंतरात्म

इंदुलो जंतुकुल मंता नोकटे
अंदरिकि श्रीहरि अंतरात्म ।

\+ + +

अनुगु देवतलकुनु अल काम सुखमोकटे
घनकीटपशुवुलकु काम सुखमोकटे
दिन महोरात्रुलु तेगि धनाढ्युन कोकटे
ओनर निरुपेदकुनु नोक्कटे नवियु ।

\+ + +

कडु पुण्युलनु पापकर्मुलनु सरिगान
जडियु श्रीवेंकटेश्वरनाम मोकटे ।

आशय—हरि, हरि, हरि । ब्रह्म एक ही, परब्रह्म एक ही, परब्रह्म एक ही, परब्रह्म एक ही । यहाँ हीनता और उच्चता नहीं है । सब के लिए श्रीहरि ही अंतरात्मा हैं । यहाँ सभी प्राणी समान हैं, सब के लिए श्रीहरि अंतरात्मा हैं । देवताओं के लिए तथा बड़े-छोटे जीव-जन्तुओं के लिए काम सुख एक ही है । बड़े धनवान और परम दरिद्र के लिए दिन तथा रात्रियाँ समान ही हैं । श्रीवेंकटेश्वर नाम ही बड़े पुण्यात्मा तथा पापात्माओं को तारने वाला है ।

सदा भगवान का नाम-स्मरण में तत्पर रहना तथा बैष्णव आचार के अनुसार चलना ही सब से उत्तम मार्ग है । संध्या, जप, तप सब वही है—

सहज वैष्णवाचारवर्तनुल, सहवासमे मा संध्य
अतिशयमगु श्रीहरि संकीर्तन, सततंबु मा संध्य
मति रामानुज मतमे नाकुनु, चतुरत मेरसिन संध्य
परम भागवत पद सेवनमे सरवि नेन्न मा संध्य

\+ + +

कंतुगुरुडु वेंकटगिरि रायनि, संतर्पणमे मा संध्य ।

आशय—जो स्वाभाविक रूप से वैष्णव आचार का पालन करते हैं, उनका सांगत्य ही हमारी संध्या है। महिमायुक्त श्रीहरि नाम का सतत संकीर्तन ही हमारी संध्या है। रामानुज मत के अनुसार चलना ही विशुद्ध संध्या है। परम भागवतों अर्थात् भक्तों की पाद-सेवा ही हमारी संध्या है। कन्तुजनक वेंकटगिरिनाथ को तृप्त करना ही हमारी संध्या है।

भक्त पोतना, सूरदास तथा अन्य भक्त कवियों ने भी इसी प्रकार का भाव व्यक्त किया है। अन्नमाचार्य जी ने यह भी बतलाया है कि हरि भक्त को कैसे रहना चाहिए। उन्हीं के शब्दों में—

अट्टुवंटिवाडवो हरिदासुडु, अटमटालु विडिचिनातडे सुखि
तिट्टेटिमाटलुनु दीविंचेटि माटलुनु, आट्टेसरेनि तलचिनातडे सुखी
पट्टि चंपे वेलनु पट्टमु कट्टेवेलनु, अट्टु निट्टु चलिचनियतडे सुखि

\+ + + +

पोंदि पूण्यमु वच्चिना, पोरि पापमु वच्चिना
अंदरि फल मोल्लनि यातडे सुखि
विंदुगा श्रीवेंकटाद्रि विभुनि दासुल जेरि
अंदरानि पदमंदिनातडे सुखि।

वही हरि का भक्त है जिसने प्रवंचना छोड़ दी हो, वही सुखी है। वही सुखी है जो निंदा-स्तुति को समान रूप से मानता है। वही सुखी है जो पकड़ कर मारते समय या सिंहासन पर बिठाते समय विचलित नहीं होता। पुण्य प्राप्त हो या पाप, उसके फल को न चाहनेवाला ही सुखी है। वही सुखी है, जो सप्रेम श्री वेंकटाद्रिनाथ के भक्तों से मिलकर अलभ्य पद को पाता है।

अन्नमाचार्य जी के पदों में भक्तिशास्त्र में वर्णित सभी प्रकार के उदाहरण प्राप्त होते हैं। वात्सल्य, सख्य, माधुर्य, शान्त आदि के उत्कृष्ट रूप उनमें विद्यमान हैं। उनका एक-एक पद एक-एक रत्न है। उनका समग्र

पद-साहित्य उनकी परा भक्ति की दिव्य विभूति है। तेलुगु के प्रसिद्ध आलोचक स्व० वेटूरि प्रभाकर शास्त्री जी ने ठीक ही कहा था कि ताल्लपाक अन्नमाचार्य जी को पढ़े बिना तेलुगु नहीं आती।

शास्त्रकार जिस नैसर्गिकी प्रतिभा को महत्वयुक्त बतलाते हैं, वह प्रतिभा अन्नमाचार्य जी में पूर्णतः विद्यमान थी। 'नानृषिः कुरुते काव्यम्' वाली बात उनके विषय में चरितार्थ होती है। अंत में यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि उन्होंने वाणी को सहज सौंदर्य तथा गति प्रदान कर उसे सौभाग्यशालिनी बनाया।

लेखक : डॉ. एन. एस. दक्षिणामूर्ति

भक्तकवि पोतन्न

प्रत्येक भाषा के साहित्य के इतिहास में कुछ ऐसी कवि विभूतियाँ प्रादुर्भूत होती हैं, जिनके उज्ज्वल आलोक से उस भाषा का सारा साहित्य प्रकाशित होता है और जन मानस के ऐसा सुदृढ़ अवलंब मिलता है जिससे लोग अपने इह और पारलौकिक जीवन का हित-साधन कर सकते हैं। तेलुगु-साहित्य में भक्त कवि पोतन्न और हिन्दी साहित्य में महात्मा सूरदास और तुलसीदास ऐसी ही विभूतियाँ बनकर आये थे जिनका अमिट प्रभाव उस भाषा-भाषी जनता पर सदियों के बाद भी स्पष्ट दिखाई पड़ता है उन्होंने अपने-अपने अनुपम और अमर ग्रंथों के द्वारा जनता को वह प्रकाश दिया था जिसके आलोक में वह अनंतकाल तक अपने जीवन के घोर अंधकार को दूर करने उसे उज्ज्वल आशान्वित बना सके। अस्तु।

जैसा कि अन्य प्राचीन कवियों के संबंध में होता है, पोतन्न के जीवन के संबंध में निश्चित रूप में कुछ कहा नहीं जा सकता। अधिकतर विद्वानों का मत है कि पोतन्न ई० सन् 1400 और 1470 के बीच में विद्यमान थे। उनका जन्म आंध्र प्रदेश के वर्तमान वरंगल के पास "बम्मेर" नामक गाँव में केसनामात्य और लक्कमांबा के घर हुआ था। पोतन्न स्वार्त नियोगी ब्राह्मण थे, जो हरिहर की अद्वैत भावना को भजते थे। इनकी प्रारंभिक शिक्षा घर में ही पिताजी केसनामात्य के द्वारा हुई थी और

बाद में, कहा जाता है, एक शिवयोगी के अनुग्रह से इनको कवित्व शक्ति प्राप्त हुई, अतएव इन्होंने अपने को "सहज पांडित्य" भूपित कहा है। इन्होंने अपने प्रारंभिक काल में "वीरभद्रविजय" नामक शैव भक्ति पूर्ण काव्य "नारायणशतक" और "भोगिनी दंडक" लिखे और अंत में अपनी अमर कृति "आँध्र महा भागवत्" का निर्माण किया। इन चारों ग्रंथों में से पोतन्न के नाम को अमरत्व प्रदान करने वाला काव्य आँध्र महा भागवत है। इसकी रचना के द्वारा कवि और काव्य दोनों अमर हो गय। "वीर भद्र विजय" में वायुपुराणांतर्गत दक्ष यज्ञ की कथा वर्णित है। "नारायण शतक" में जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, भगवान नारायण की स्तुति की गयी। "भोगिनी दंडक" में, जो पोतन्न की भक्ति की दृष्टि से अपरिपक्व अवस्था की रचना है और जिस पर बाद में पोतन्न को पश्चात्ताप भी हुआ था, उन्होंने अपने समय के राचकोण्ड के राजा सर्वज्ञ सिंग भूपाल और भोगिनी नामक वेश्या के मिलन का वर्णन किया। कुछ विद्वानों के अनुसार यह पोतन्न की रचना नहीं है। आँध्र महा भागवत व्यासकृत संस्कृत भागवत पुराण का स्वतंत्र अनुवाद है, जिसके आठ स्कंध पोतन्न ने लिखे और अन्य चार स्कंधों में पंचम स्कंध गंगन्न ने, षष्ठस्कंध सिंगन्न ने और एकादश और द्वादश स्कंध नारय्य ने लिखे। यद्यपि पोतन्न की जीवनी प्रामाणिक रूप से उपलब्ध नहीं होती है तथापि उनके जीवन संबंधित कुछ रोचक घटनाएँ जो जनश्रुति के अनुसार प्रचलित हैं उनका वर्णन यहाँ किया जाता है। इन घटनाओं के द्वारा पोतन्न के जीवन और व्यक्तित्व पर प्रकाश पड़ता है।

पोतन्न गरीब परिवार के थे और खेती-बाड़ी के द्वारा अपनी जीविका चलाते थे। उनके समकालीन प्रसिद्ध कवि श्रीनाथ थे जो कई शैव काव्यों के प्रणेता थे। उन्होंने कई राजाओं का आश्रय लिया और बड़े ठाठ-बाट से जीवन बिताया। पोतन्न और श्रीनाथ में निकट का संबंध था। कहा जाता है कि एक दिन श्रीनाथ पोतन्न के घर गये थे अपनी पालकी में बैठकर, उस समय पोतन्न अपने पुत्र मल्लन्न के साथ हल जोत रहे थे। श्रीनाथ को सरस्वती देवी का इष्ट था। उन्होंने अपनी महिमा पोतन्न

को दिखाने के लिए पालकी ढोनेवाले अगले कहारों से पालकी छोड़ देने को कहा। जब कहारों ने पालकी छोड़ दी तब भी पालकी पूर्ववत् चलती रही; गिरी नहीं। यह देखकर मल्लन्न ने अपने पिता का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया तो पोतन्न ने कहा कि तुम जुए की एक तरफ़ के बैल को खोल दो। बैल को खोल देने पर भी हल चलता रहा। यह देखकर श्रीनाथ ने पिछली ओर के कहारों से भी पालकी छोड़ देने को कहा। उनके छोड़ देने पर भी पालकी बिना कहारों के ही चलती रही। यह देखकर पोतन्न ने अपने जुए की दूसरी तरफ़ के बैल को भी खुलवा दिया तो भी हल चलता रहा। यह देखकर श्रीना पालकी से नीचे उतर पड़े और पोतन्न को नमस्कार किया और पूछा, "हालिक कुशल से तो हैं ? पोतन्न ने उचित उत्तर दिया। तब श्रीनाथ ने पोतन्न से कहा, "तुम तो महान कवि हो। कोई काव्य लिखकर किसी राजा को समर्पित करो तो तुम्हारी ग़रीबी सारी मिट जाय और जीवन आराम से कटे।" यह सुनकर पोतन्न ने कहा :—

बाल रसाल साल नव पल्लव कोमल काव्यकन्यकन्
कूळलकिच्चि यप्पडुपु कूडु भुजिचुट कंटे सत्कवुल्
हालिकुलैन नेमि ! गहनांतर सीमल कंदमूल कौ
द्दालिकुलैन नेमि निज दार सुतोदर पोषणार्थमै !

इसका अनुवाद है :—

बाल रसाल साल नव पल्लव कोमल कविता कन्या को
नश्वर जीवन के सुख पाने हित देकर नीच नृपों को,
तुच्छ अशन पाना तजकर हल जोतें यदि सत्कवि तो क्या ?
या पत्नी पुत्रों हित वन में कंदमूल खोदें तो क्या ?

यह उतर सुनकर श्रीनाथ निरुत्तर हो गये। प्रारंभिक जीवन में लिखे गये भोगिनी दंडक पर हुए पोतन्न का पश्चात्ताप इसमें व्यक्त होता है, क्योंकि उसके द्वारा अपनी वाणी को अपवित्र किया था। इसके बाद

पोतन्न श्रीनाथ को अपने घर ले गये और सब वस्तुओं के अभाव में भी देवी सरस्वती की प्रार्थना कर उसकी कृपा से उनको षड्रसोपेत भोजन कराया। भोजनोपरांत पोतन्न ने श्रीनाथ को अपने भागवत के कुछ पद्य पढ़ सुनाये तो उनसे प्रभावित होकर श्रीनाथ ने उनसे फिर अनुरोध किया कि ऐसा सुन्दर और सरस काव्य किसी राजा को समर्पित कर उनके द्वारा धन प्राप्त कर अपनी ग़रीबी क्यों नहीं मिटा लेते ? तब कहा जाता है कि पोतन्न का मन थोड़ा विचलित हुआ तो उनके सामने देवी सरस्वती रोती हुई प्रकट हुई। पोतन्न झट अपनी चंचलता समझ गये और सरस्वती को आश्वासन देते हुए कहा :—

काटुक कंटि नीरु चनुकट्टुपयिं बड नेल येड्चेदो
कैटभ दैत्य मर्दनुनि गादिलि कोडला यो मदंबा यो
हाटक गर्भु राणि ! निनु नाकटिकि गोनिपोयि यल्लक-
र्णाट किराट कीचकुल कम्म त्रिशुद्धिग नम्मु भारती।

अनुवाद :

काजल के अश्रु बहाती हो कपोल वक्षजों पर
हे कैटभ हंतक पुत्रवधू ! हे माता ! रो रोकर,
विश्वास करो तुमको बेचूँगा न कभी मन से भी
कर्णाटों, वैश्यों, क्षुद्रनृपों को क्षुधार्त होकर भी ॥

यह श्रीनाथ को एकदम निरुत्तर करने का उत्तर था क्योंकि धन के लोभ में पड़कर उन्होंने कर्णाटक राजाओं, वैश्यों और क्षुद्रनृपों को अपने काव्य समर्पित किए और इस प्रकार सरस्वती को बेच दिया। ग़रीब होते हुए भी ऐसे निष्ठावान आराधक थे पोतन्न सरस्वती के ! इस निष्ठा की दृष्टि से यदि देखा जाय तो हिन्दी साहित्य में इनके समकक्ष भक्त कवि गोस्वामी तुलसीदास हैं, जिन्होंने कहा :—

कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना।
सिर धुनि गिरा लगति पछताना॥

पोतन्न की भक्ति के वश होकर भगवान विष्णु ने अनेक बार उनकी सहायता कर कष्टों से बचाया ही नहीं, बल्कि उनको स्वयं दर्शन भी दिए थे। तृतीय स्कंध में जब वे वराहावतार की कथा लिख रहे थे तब भगवान ने स्वयं वराह का रूप धरकर उनके घर की रखवाली की और उन सैनिकों से उनको बचाया जो उनका ग्रंथ भागवत बलात्कार पूर्वक लेने के लिए राजा के द्वारा भेजे गये थे।

अष्टम स्कंध में गजेंद्रमोक्ष की कथा जब लिख रहे थे तब एक पद्य में "अल वैकुंठ पुरवुलो नगरि लो नामूल सौधंबु" तक लिखकर उनकी लेखिनी अचानक रुक गई। आगे क्या लिखना है उनको कुछ समझ में नहीं आया। तो ताळपत्र और लेखिनी को वहीं छोड़कर बाहर टहलने गये। तब उनकी अनुपस्थिति में स्वयं भगवान कृष्ण ने उनके वेष में आकर पोतन्न की पुत्री को बुलाया और उसके द्वारा पत्र, लेखिनी आदि मंगवाकर वह पद्य पूरा कर दिया और ज़रा बाहर हो आने की बात कह-कर चले गये। थोड़ी देर के बाद पोतन्न स्वयं आये और पुत्री को बुलाया; लेखिनी और पत्र मँगाये और लिखने को उद्यत हुए तो देखा कि वहाँ वह पद्य उसी प्रकार पूरा किया हुआ था जैसा उनके मन में आया था। आश्चर्य चकित होकर उन्होंने पुत्री से पूछा कि बेटी! यह किसने लिखा? यह सुनकर बेटी को भी आश्चर्य हुआ और उसने कहा कि "अभी थोड़ी देर पहले आकर आप ही ने तो लिखा है; फिर ऐसा क्यों पूछ रहे हैं?" तब पोतन्न ने सोचा कि अवश्य ही स्वयं कृष्ण ने मेरे वेश में आकर पुत्री को दर्शन देकर उस पद्य को पूरा किया है। यह सोचकर उनकी आँखों से हर्षाश्रु बहे और उन्होंने अपनी पुत्री के भाग्य की सराहना की।

जनता में प्रचलित इन कथाओं के द्वारा यह विदित होता है कि उसके हृदय में पोतन्न की भक्ति का प्रभाव कैसा है; यद्यपि उनकी सच्चाई के बारे में आज के बुद्धिवादी युग में संकट प्रकट किया जा सकता है। अब आगे पोतन्न की रचना और भक्ति पद्धतियों पर थोड़ा विचार किया जाय।

पोतन्न एक दिन चंद्रग्रहण के समय गोदावरी में स्नान कर उसके पुलिन पर निमीलित नेत्र होकर महेश्वर का ध्यान करते बैठे तो उनको

भगवान राम ने उसी ध्यानवस्था में दर्शन देकर आदेश दिया कि "तुम भागवत पुराण की रचना तेलुगु में करके मुझे समर्पित करो। तुम मुक्त हो जाओगे।" तुरंत उनका ध्यान खुल गया तो गद्‌गद होकर उन्होंने कहा—

पलिकेडिदि भागवतमट
पलिकिंचेडि वाडु राम भद्रुंडट ने
पलिकिन भवहर मगुनट
पलिकेद वेरोंडु गाथ पलुकग नेला ?

अनुवाद :

कहना है भागवत महा पुराण
कहलाने वाले हैं राममुजान
मेरे कहे बनेगा पर भवहर
लो और कहूँ क्यों गाथ इतर ?

यह निश्चय कर पोतन्न ने महत्वपूर्ण स्कंधों का अनुवाद स्वयं किया और अन्य स्कंधों का अन्य कवियों ने। आँध्र महा भागवत यद्यपि संस्कृत भागवत का अनुवाद है, किंतु फिर भी वह स्वतन्त्रता पूर्वक किया गया। मार्मिक प्रसंगों का विस्तार करके पोतन्न ने उसको एक मौलिक रूप दे दिया। जिसमें उनका भाव-सौंदर्य, कला-कुशलता तथा भक्तिमय व्यक्तित्व के दर्शन होते हैं। उदाहरण के लिए एक दो प्रसंग देखे जायें।

सप्तम स्कंध के प्रह्लाद चरित में हिरण्यकश्यप और प्रह्लाद का वार्तालाप जो मूल में तीन श्लोकों में वर्णित है, आँध्र महा भागवत में अधिक विस्तार के साथ आठ पद्यों में बहुत स्वाभाविक ढंग से वर्णित हैं।

प्रह्लादानूच्यतां तातस्वधीतं किंचिदुत्तमम्।
कालेनैतावताऽऽयुष्मन् यदशिक्षद् गुरोर्भवान्॥

प्रह्लाद :- श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणम् पादसेवनम् ।
अर्चनं वंदनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥
इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा ।
क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीत मुत्तमम् ॥

(7–5–22–24)

आँध्र महा भागवत के इस प्रसंग का हिन्दी अनुवाद यों है :—

हिरण्य :—

1. आश्चर्य मुझे होता है गुरुवर ने क्या सिखलाया ?
तुमको कैसा ज्ञान दिया है, कैसा पाठ पढ़ाया ?
मैं भी जानूँ सार तुम्हारी गुरु प्रदत्त विद्या का ।
कोई पद्य सुनाओ अर्थयुक्त अधीत शास्त्रों का ।

2. दैत्य बालक नहीं सराहते तुमको नीति-पाठ में
बेटा ! दक्ष बने वे सब कह सकते ग्रंथार्थों में
भैया ! इच्छा है मम देखूँ कब नीति निपुण तुमको
तात ! दिखाओ अपनी उज्ज्वल उन्नत प्रतिभा मुझको ॥

प्रह्लाद :—

3. गुरु ने शास्त्र पढ़ा ज्ञान दिया
मुझको अपरंपार ।
तात ! पढ़ा सब मैंने जाना
सब धर्मों का सार ॥

4. तन मन वाणी में सख्य, श्रवण, दास्य, अर्चना वंदन,
सेवा, आत्म का ज्ञान सदा संकीर्तन औ चिंतन ।
ये नौ भक्ति मार्ग हैं जिनसे, विश्वास करे कोई हरि का
दैत्यराज ! सज्जन बन कोई तो मंगल जीवन का ॥

5. अंधे जन पर चंद्रोदय औ बहरे पर शंखारव जैसे
   मूकों का ग्रंथाख्यापन, हिजड़े की स्त्री अभिलाषा जैसे
   कृतघ्न बंधुत्व, लुब्धधन, भस्म हव्य, सुगंध सूकर को ज्यों
   हरि भक्ति विहीन जनों के सांसारिक कार्य सभी होते त्यों ॥

6. कमल नयन की पूजा करने वाले कर ही कर हैं ।
   श्रीपति वर्णन करनेवाली जिह्वा ही जिह्वा है ।
   सुर रक्षक के दर्शन करनेवाले दृग ही दृग हैं ।
   मधु वैरी में लगने वाला मन ही सच्चा मन है ।

7. विष्णु कथा सुननेवाले श्रवण ही श्रवण सच्चे हैं
   शेषनागशायी सम्मुख नत मस्तक ही मस्तक है ।
   भगवान-दिशा में ले जाने वाले पद ही पद हैं ।
   पुरुषोत्तम में लगने वाली बुद्धि ही तो बुद्धि है ।

8. देव देव चिंतन लगने वाला दिन ही सार्थक दिन है ।
   चक्रहस्त दरसाने वाली विद्या ही विद्या है ।
   भू-धव ज्ञान कराने वाले गुरु ही सच्चे गुरु हैं
   हरि तक पहुँचाने वाले जनक ही जनक सच्चे हैं ॥

9. कंज नयन की सेवा हित न बनी काया काया ही क्या ?
   वह वायु भरी चमड़े की मशक नहीं तो फिर है क्या ?
   वैकुंठाधिप गान न करने वाला मुख मुख ही क्या ?
   वह डम डम करने वाला डमरू नहीं तो फिर है क्या ?

10. विष्णु की पूजा नहीं करने वाला कर कर ही क्या ?
    वह तरु शाखा निर्मित करछा नहीं तो और है क्या ?
    कमलेश्वर के दर्शन न करे तो वे दृग दृग ही क्या ?
    वे देह-भित्ति के गवाक्ष के रंध्र नहीं तो फिर क्या ?

11 चक्रपाणि चिंतन न करे जो वह जीवन जीवन क्या ?
वह बुलबुला तरल पानी का नहीं तो और है क्या ?
भक्ति विष्णु-चरणों की न करे जो विबुध विबुध ही क्या ?
वह चरण युगल का पुच्छहीन जतु नहीं तो फिर क्या ?

12. भवमेघ खुलेंगे अज के भी, क्या विष्णुदास्य पवमान बिना ?
तापत्रय दावाग्नि बुझेगी, क्या हरि सेवामृत वृष्टि बिना ?
सर्व पाप सागर सूखेंगे, क्या विष्णु बुद्धि बड़वाग्नि बिना ?
विपत्ति घनांधकार मिटेगा, क्या विष्णु स्तुति-रवि काँति बिना ?
निरुपम मोक्षनिधि दिखेगी क्या शारंगधर चिंतनांजन बिना ?

इस विस्तार में, मूल में सूत्र रूप में बतायी गयी नवधा-भक्ति की कैसी सुंदर काव्यमय व्याख्या है !

अष्टम स्कंध में गजेंद्र मोक्ष की कथा को पोतन्न ने मूल का चौगुना विस्तार दिया और उसे स्वाभाविक और सरस बनाया। कुछ अमूलक भावों और चित्रों का वर्णन यों है। मकर से पीडित गजेंद्र जब दुखी होकर भगवान विष्णु को आर्त स्वर से पुकारता है, तब भगवान की आतुरता का वर्णन :—

अल वैकुंठ पुरंबु लो नगरिलो ना मूल सौधंबु दा–
पल मंदारवनांतरामृत सरः प्रांतेंदु कांतोपलो–
त्पल पर्यंक रमाविनोदि यगु नापन्न प्रपन्नुंडु वि–
ह्वल नागेंद्रमु पाहि पाहि यन कुय्यालिंचि संरंभियै ।

(आगे से विस्तार के भय से अनुवाद मात्र दिया जाता है।)

1. वैकुंठपुरी रनवासों में सौधांतर में विकसित
मंदारवनामृत सर तट पर चंद्रशिला शय्याशोभित
लक्ष्मी के मनरंजक पुकार आर्त हस्ति की सुनकर
दीन भक्त रक्षक हरि दौड़ पड़े रक्षातुर होकर ।।

2. लक्ष्मी से न कहा, शंख चक्र भी न लिए, सैन्य नहीं ।
श्री के कर्ण फूल में उलझी अलकें की ठीक नहीं ।।
विवाद में ग्रहीत आँचल का भी छोड़ा छोर नहीं ।
गज रक्षा हित चले, गरुड की देखी तक राह नहीं ।।

3. तब लक्ष्मी की हालत ऐसी हुई कि वह
चंचल तार्टकों से भुजपर नर्तित केश बंध से
शाटी मुक्त कुचों से ढीले छूट रहे मेखल से
पिघले ललाट लेपन, प्रिय कर ग्रहीत उत्तरीय से
कोटींदु प्रभा से, उरोज भार विकंपित कटि तट से ।।
बात पूछने आगे बढ़ती
रुकती "नहीं कहेंगे" सोच
रुक फिर बढ़ती, बढ़ फिर रुकती
रुक बढ़कर मारे संकोच ।
लड़खड़ाते डगमगाते पद
चलती कंपित ढलमल चाल
संभ्रम से बढ़ बढ़ ठिठक ठिठक
जड़वत्, फिर चलती उस काल ।।

इस प्रकार इस प्रसंग का संपूर्ण चित्र पोतन्न का अपना मौलिक है जो इस कथा को एक अलग ही काव्य का रूप देता है। इसमें जहाँ भगवान की आर्त त्राण परायणता की सुँदर अभिव्यक्ति की गयी है वहाँ कलात्मकता की दृष्टि से पोतन्न की स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक चित्रण-कुशलता भी भली-भांति प्रकट होती है । कहा जाता है कि इस प्रसंग में भगवान विष्णु के आर्त गजेंद्र के पास जाने का वर्णन सुनकर श्रीनाथ ने उसकी आलोचना करते हुए कहा कि विष्णु ने जाते समय अपनी पत्नी से नहीं कहा, शंख चक्र आदि को नहीं ग्रहण किया; सेना को नहीं लिया, यहाँ तक कि गरुड को भी नहीं बुलाया । हाथी की रक्षा के लिए बिना किसी

साधन सामग्री को लिए आखिर गये क्यों ? क्या वहाँ तमाशा देखने गये ? यह वर्णन कुछ ठीक जँचता नहीं।" यह सुनकर पोतन्न उस समय चुप रहे। बाद में श्रीनाथ जब भोजन कर रहे थे तब उनके बच्चे को कहीं छिपाकर पोतन्न ने कुएँ में एक बड़ा सा पत्थर डाल दिया और चिल्लाते हुए कहा, "हाय ! बच्चा कुएँ में गिर गया।" यह सुनकर श्रीनाथ तुरंत खाना छोड़कर जूठे हाथों से वैसे ही हाय-हाय मचाते हुए कुएँ के पास गये और उसके चारों ओर दौड़ने लगे। तब पोतन्न ने शांति से उनसे कहा कि भई, बच्चे को कुएँ से बाहर निकालने के लिए रस्सी आदि कोई साधन लिए बिना आने से क्या लाभ होगा ? कोई साधन साथ में ले आते।" इस पर ध्यान न देकर श्रीनाथ कहने लगे कि मेरा बच्चा कहाँ है ? कैसे गिरा ! बताओ तो सही।" तब पोतन्न ने आश्वासन देते हुए कहा कि घबराओ मत। बच्चे के कुएँ में गिरने की बात सुनकर तुम साधन विहीन होकर जैसे आये हो वैसे ही भगवान विष्णु भी अपने भक्त की पुकार सुनकर आगा पीछा न कर, किसी चीज की प्रतीक्षा न कर, एक-दम दौड़ पड़े। उस व्यग्रता में और किसी बात का ध्यान नहीं होता।" यह सुनकर श्रीनाथ निरुत्तर हो गये।

वामनावतार के प्रसंग में शरीर वृद्धि करनेवाले वामन के वर्णन में कितनी विराट कल्पना है पोतन्न की, जो मूल में नहीं !

> वह वटु जब बढ़ता गया शनैःशनैः ब्रह्मांड में भर
> रविबिंब हुआ शोभित छत्रबना, शिरोरत्न बनकर।
> फिर श्रवणाभूषण, कर्णाभूषण फिर केयूर बना
> कंकण, मेखला किंकिणी, नूपुर बन, पद पीठ बना ॥

दशमस्कंध में जब कंस देवकी को आकाशवाणी की बात मानकर मारने जा रहा था तब वसुदेव कैसी मर्मस्पर्शी बात कहते हैं जो मूल भगवात में नहीं है !

> भाई तुम, भगिनी का करना सम्मान पुरस्कृत कर
> वस्त्राभूषण दो मृदुल मधुर बातों से कर आदर।

लेकिन प्राण न लेता गगन गिरा को सत्य मानकर
यह उचित नहीं, छोड़ो भैया ! मेरी विनती सुनकर ॥

कृष्ण लीला के वर्णन में पोतन्न ने शिव और विष्णु में कितने सुंदर ढंग से अभेद दिखाया !

देह पर लगी धूल विभूति विलेपन जैसे शोभित
शीर्ष प्रकाशित मोती शशिरेखा के सदृश विराजित
भाल-दिठौना मन्मथ विजयी विषयनेत्र समशोभित
कंठहार का सुन्दर नीलम गरलचिह्न बन विलसित
हारावलियाँ भुजंग हारावलियाँ बनकर दोलित
निज में शिव में भेद न रख यों बालक शिवसम शोभित ॥

अब पोतन्न की भक्ति पद्धति और दार्शनिक दृष्टिकोण पर भी विचार किया जाय। इन दोनों तत्त्वों की दृष्टि से तुलसीदास और पोतन्न समकक्ष ठहरते हैं। जैसे तुलसीदास ने शिव और वैष्णव तत्त्वों का समन्वय करके शिव और राम को आपस में एक दूसरे का भक्त बनाया, उसी प्रकार पोतन्न ने भी हरिहर तत्त्वों में अभेद दिखाया। पोतन्न को भागवत रचना की प्रेरणा जो मिली उससे यह बात प्रमाणित होती है। उन्होंने शिव का ध्यान लगाया तो राम ने दर्शन दिया और भागवत की रचना करने का आदेश दिया जिस में कृष्ण की प्रधानता है। इससे पोतन्न ने राम और कृष्ण तत्त्वों का समन्वय किया है। जैसे तुलसीदास ने दार्शनिकवाद निरपेक्ष होकर भक्ति को प्रधानता दी, उसी प्रकार पोतन्न ने भी भक्ति को सर्वोपरि माना। ऊपर दिए गये प्रह्लाद और गजेंद्र मोक्ष के प्रसंगों से यह स्पष्ट होता है कि वे प्रपत्ति को अधिक महत्त्व देते हैं। उनकी मान्यता थी कि प्रपत्ति के द्वारा जीव का उद्धार हो सकता है। यह प्रपत्ति प्रधान भक्ति भिन्न-भिन्न दार्शनिक वादों को आधार मानकर चलती है। जीवन की विभिन्न परिस्थितियों में यह प्रपत्ति दिखायी गयी है। प्रथम स्कंध में भीष्म के द्वारा की गयी कृष्ण की स्तुति इसका प्रमाण है। भीष्म कहते हैं :—

उछल रथ से जब पड़े श्रवणकुंडल
कांति फैली नील निर्मल गगन तल में
कूद भूपर जब पड़े चरण आघात से
लगे डोलने असह् जग कुक्षितल में ।
चक्र लेकर हाथ में शत्रुपर टूटे जभी
छूट पीला दुपट्टा उड़ा वायु मंडल में ।
"विश्वास तेरा, शक्ति मेरी हो न उपहसित"
कह खींचता पार्थ बैठे पद युगल में ।
"भीष्म को मारकर बचाऊँ तुझे पार्थ आज
छोड़" कर हस्ति पर सिंहसम पल में ।
झपट, बचकर मम तीव्र शर वृष्टि से
आते देव ही मेरी शरण हृदयतल में ॥

सप्तम स्कंध में प्रह्लाद अपने पिता के सामने विष्णु भक्ति की जो महिमा गाता है, वह वैधी भक्ति का सुन्दर उदाहरण है जिस में प्रपत्ति मूलक विशिष्टाद्वैतवादी दृष्टिकोण स्पष्ट हो भगवान नृसिंह प्रह्लाद को वर देते हैं कि तुम देहावसान के बाद बंधन मुक्त होकर मेरे निकट रहोगे। (आं. भा. 7-37१) इसमें सामीप्य मुक्ति प्रतिपादित है जो मध्वाचार्य के द्वैतवाद के अनुसार मुक्ति का एक भेद है।

अष्टम स्कंध में गजेंद्र भगवान की स्तुति करते हुए कहता है :—

जिससे यह जग पैदा होता, जिसमें विलीन रहता
औ लय होता, परमेश्वर जो प्रधान कारण बनता
जो आदि मध्य लयविहीन हो स्वयं सभी कुछ बनता
उस आत्म भव ईश का मैं अब तो शरणागत बनता ।

2. कभी कभी जग प्रकटित करता बाहर
कभी कभी कर लेता अपने अंदर

बन उभय स्वयं साक्षी सबका होता
उस आत्म मूल को मैं मन में लाता ॥

इसमें भी वही विशिष्टाद्वैत की झलक मिलती है।

दशम स्कंध के उत्तरार्ध में वेदों की कृष्ण-स्तुति में द्वैताद्वैत का पुट लिए हुए विशिष्टाद्वैती प्रधान भक्ति लक्षित होती है। वे कहते हैं कि हे भगवान, जिस प्रकार सोना कंकण, मुकुट, कुंडल आदि आभूषणों का रूप धारण करने पर भी सोना ही बना रहता है, उसी प्रकार तुम सृष्टि के विकारानुवर्ती होकर भी कल्याण गुणात्मक हो। (आं. भा. 10-3-1220) भेदाभेदवादी विचारधारा के अनुसार कारणात्मक जीव और ब्रह्म की एकता है। परंतु कार्य रूप में दोनों की अनेकता है। दशम स्कंध के पूर्वार्ध में गोपिकाओं को माधुर्य-भक्ति सबसे अधिक प्रतिपादित है। उन्होंने कृष्ण का संयोग तथा वियोग सुख दोनों पाये थे। गोपिकाओं की यह भक्ति विकल रागात्मिका है। उनकी अनुराग पूर्ण भक्ति से प्रसन्न होकर कृष्ण उनसे आत्माराम बन कर क्रीडा करते हैं। गोपिकाओं की रागात्मिका माधुर्य भक्ति के मूल में कृष्ण के अवतारी पुरुष होने का ज्ञान निहित है। वे कृष्ण से कहती हैं कि तुम केवल यशोदा के पुत्र नहीं थे; सब जंतुओं की चेतना में व्याप्त और ज्ञात प्रभु हो। ब्रह्मा की प्रार्थना के, अनुसार तुमने पृथ्वी पर सत्कुल में मनोहर आकार से जन्म लिया है। गोपिका गीतों में वे कहती हैं कि हे कृष्ण, आपने देह धारिणियों के लिए पति पुत्र और बंधुओं की सेवा करना धर्म बताया। किंतु पति पुत्रादि के रूप में भासित तुम में पति पुत्रादि संबंधी इच्छा से तुमको संभावित करना क्या अन्याय है? (आँ. भा. पू. 990) गोपिकाओं की इस भक्ति में शुद्धाद्वैत भावना है जिसके अनुसार अपनी आत्मा में आंतरिक रूप से रमण करने वाला ईश्वर आत्माराम कहलाता है। भागवत की रचना में पोतन्न ने अधिकतर श्रीधरीय व्याख्या का अनुसरण किया। अत: उसमें कतिपय स्थानों में आद्वैत भावना मूलक भक्ति भी मिलती है। भोक्ता जीव को वासुदेव ब्रह्म ही जानो (आं. भा, 2-84) ईश्वरेतर पदार्थ

कोई नहीं है। (2-85) अतः संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि पोतन्न भी दार्शनिकवाद निरपेक्ष श्रुति सम्मत हरि भक्ति को ही मान्यता देते हैं।

इस प्रकार भक्ति भावना और रचना प्रक्रिया की दृष्टि से पोतन्न की तुलना हिन्दी में गोस्वामी तुलसीदास के साथ की जा सकती है, यद्यपि काव्य वस्तु की दृष्टि से सूरदास इनके समकक्ष ठहरते हैं। दशम स्कंध भागवत का सर्व प्रधान अंश है। उसकी रचना पोतन्न और सूरदास ने अतिशय भक्ति विभोर होकर मूलाधिक रूप से की। किंतु सूरदास का सूरसागर गीतात्मक है और पोतन्न का आँध्र महा भागवत चंपू है और सूरसागर की तुलना में मर्यादा बद्ध है।

भागवत की भूमिका में पोतन्न ने प्रतिज्ञा की कि
नन्नय, तिक्कन आदि सुकवियों ने अनुवाद किया था
कई पुराणों का, किंतु सुकृतवश भय छोड़ दिया था
अननूदित भागवत, इसे अब मैं पुनर्जन्मविरहित
रामानुग्रह से कर लूँगा सर्वाभीष्ट अनूदित ॥

सचमुच इस रचना के द्वारा कवि और काव्य दोनों अमर हो गये। संस्कृत भागवत का देशी भाषाओं में यह आँध्र महा भागवत सर्व प्रथम अनुवाद है जो और भाषाओं के लिए भी मार्गदर्शक बन गया है।

लेखक : **डॉ. चावलि सूर्यनारायण मूर्ति, मद्रास**

मोल्ला

श्री कृष्णदेवरायलु का शासन काल तेलुगु-साहित्य का स्वर्ण युग समझा जाता है। इस समय रायलु के द्वारा सब प्रकार की कलाओं को भरपूर प्रोत्साहन मिला था। स्वयं उच्च कोटि के कवि थे और उनका आस्थान तेलुगु-काव्य रचना का उर्वर केन्द्र रहा। रायलु के आस्थान के अलसानि वेद्दन्ना, भट्टुमूर्ति, मुक्कु तिम्मन्ना, तेनाली रामकृष्ण आदि प्रतिभा सम्पन्न कवि 'अष्टदिग्गज' नाम से विख्यात हैं। श्रीकृष्णदेव रायलु के कुछ ही समय बाद दक्खिन में कुली वंश के नवाब 'गोलकोंड़ा' को अपना राजधानी-नगर बनाकर जम गए। इसी वंश के प्रसिद्ध नवाब महम्मद-कुली ने (शासन-काल सन् 1580 से 1612 तक) आज के आन्ध्रों के राज-धानी-नगर, हैदराबाद को, सन् 1591 में अपनी प्रेयसी भागमती या हैदर-महल के नाम पर, बसाया था। महम्मद कुली साहित्य-प्रिय और कवियों का आश्रयदाता ही नहीं था वरन् स्वयं फ़ारसी, उर्दू और तेलुगु में कविता करता था। यह उर्दू का प्रथम कवि समझा जाता है। कहा जाता है कि इसके दीवान (कविता-संग्रह) 1800 पृष्ठों के हैं जिनमें 50 हजार पंक्तियाँ हैं। दुर्भाग्यवश इसकी तेलुगु की कविता अब तक प्राप्त नहीं है। शासक और शासित के बीच साहित्यिक आदान-प्रदान का क्रम कुलीवंश के आदि

शासक सुलतान कुली कुतुबशाह के समय से रहा था। कुली कुतुबशाह का पुत्र और महम्मद कुली का पिता इब्रहीम था। मलिक भराम फ़ारसी और तेलुगु के कवियों से सदैव घिरा रहता था। तेलुगु की कवि-मण्डली इब्रहीम को इतना मानती थी कि उसकी मृत्यु पर तेलुगु के कवियों ने ब्रह्मा को एकदम फटकार दी थी :—

"रारा ! विधाता ! योरि विनरा ! तगुरा ? तलकोरमारि ! नि-
स्सारपु लोभि राजुलनु जंपक मल्किभराम भूवरुन्
चारुयशोधनुन् सुगुणि जांपिति, वर्धुलकेमि दिक्कुरा
चेरिन नित राजुनु सृजिपग नी तरमा वसुन्धरन् ?

(चाटु पद्य मणि-मंजिरि)

(रे विधाता ! आ सुन ! यह तेरे लायक है ? प्राणघातक ! बेकार, लोभी राजाओं को न मारकर यशस्वी, सुगुण खनी राजा मलिक-भराम को (तूने) मार डाला। अब असहायों का सहारा कहाँ है ? क्या पृथ्वी पर फिर ऐसे राजा की सृष्टि करना तेरे बूते के अंदर है।)

रायलु के समय के बाद भी नवाबों और आरवीटि के राजाओं के प्रोत्साहन के फलस्वरूप तेलुगु-साहित्य अत्यन्त सम्पन्न होता जाता था। पिंगलि सूरन्ना, तेनाली रामकृष्ण, रामराजभूषण, मोल्ला, बैचराजु वेंकट-नाथ आदि लब्धप्रतिष्ठ कवि इसी युग में अवतरित हुए।

प्रायः देखा जाता है कि प्रत्येक युग में कोई न कोई कवि रामायण लिखते ही रहते हैं। किन्तु उनमें से कोई एक कृति ही प्रसिद्ध हो पाती है। प्रसिद्ध तेलुगु-महाभारत के यशस्वी प्रणेता कवित्रय में एक एर्रन्ना की लिखी रामायण ही जब काल के गर्भ में विलीन हो गई, तो दूसरे कवियों के बारे में क्या कहा जाए ! 'आन्ध्र कविता-पितामह' बिरुदधारी कोरवि सत्यनारना, ताल्लपाक अन्नमाचार्युलु की रामायणों की भी वही दशा हुई जो एर्रन्ना की रामायण की हुई। ऐसी स्थिति में, जब कि

महान कवियों के काव्य ही नष्टप्राय हुए, मोल्ला की रामायण का उपलब्ध होना तेलुगु जाति व तेलुगु साहित्य का गौरव-भाग्य है। तेलुगु की कवयित्रियों में ये यद्यपि दूसरी हैं फिर भीरामायण की कवयित्रियों में प्रथम हैं। मोल्ला के पूर्व तेलुगु में रामायण काव्यकार 7 हुए। उनके नाम ये हैं:— 1. भास्करुडु 2. तिक्कन सोमयाजी 3. एर्रना 4. रंगनाथुडु 5. ताल्लपाक अन्नमय्या 6. कोरवि सत्यनारायण 7. शाखवेल्लि मल्लिखार्जुन भट्टु, मोल्ला के बाद अय्यलरांजु रामभद्रुडु की रामायण, कंकटि पापराजु का उत्तररामचरित, गोपीनाथ रामायण प्रकाश में आई। आधुनिक युग में कवि सार्वभौम श्रीपाद कृष्णमूर्ति शास्त्री की संपूर्ण रामायण और कवि-सम्राट श्री विश्वनाथ सत्यनारायण का रामायण-कल्पवृक्ष (अब तक युद्ध-काण्ड तक ही प्रकाशित है) विशेष उल्लेखनीय हैं।

यह ठीक है कि कवि परिस्थित विशेष में उत्पन्न होता, बढता, संस्कार ग्रहण करता और प्रेरणा प्राप्त करता है; किन्तु यह कहना भी असंगत नहीं है कि वह अपनी सामाजिक परिस्थितियों के प्रतिक्रिया-स्वरूप बहुत हद तक उनका परिष्कार करने और उन्हें नया मोड़ देने का भी कार्य करता है। वह वास्तव में कवि नहीं है जो अपने भाव-कुसुमों के द्वारा अपने परिवेश को सुरभित और प्रफुल्लित न कर दे। यदि वह युग को अपनी रचना में प्रतिबिम्बित कर युग का प्रतिनिधत्व करता है, तो वह युग का निर्माण भी करता है। आंध्र के सांस्कृतिक एवं साहित्यिक इतिहास में मोल्ला की रामायण की रचना एक महत्वपूर्ण घटना है। जिन परिस्थितियों में मोल्ला का जन्म हुआ था और जिनमें वे बढ़ी थीं उन परिस्थितियों में उन्हें रामायण जैसी कृति की रचना के लिए अपेक्षित सुविधाएँ नहीं थीं बल्कि साधारणत: जो सुविधाएँ ऐसे व्यक्ति को मिल सकती हैं उनसे भी वे वंचित रहीं।

कवयित्री मोल्ला ने अपने काव्य में अपने पिता के नाम का उल्लेख अवश्य किया; किन्तु उन्होंने अपनी जाति का उल्लेख कहीं नहीं किया।

जिला नेल्लूर के गोपवरम के निवासी अपने समय के प्रसिद्ध शिवभक्त आतुकूरु केसन की पुत्री या वरपुत्री थीं मोल्ला। उनकी जाति की ओर संकेत करनेवाला आधार उनकी रचना में कहीं नहीं मिलता है। नेल्लूर डिस्ट्रिक्ट मान्युअल में बॉसवेल नामक एक अंग्रेज ने उनका उल्लेख कुम्हारिन कह कर किया है। उस मान्युअल के आधार पर मोल्ला कुम्हार जाति की है, यह समझकर तेलुगू प्रदेश के लोग उन्हें कुम्हारिन मोल्ला कहने लगे। किन्तु उनकी जाति के सम्बन्ध में निश्चित रूप से निर्देश करनेवाले प्रयास अब तक उपलब्ध नहीं हैं। ऐसी स्थिति में यह समझकर तृप्त रह जाना ज्यादा समीचीन है कि मोल्ला कविता जाति की हैं।

वे गोपवरम् श्रीकंठमल्लेश्वर की भक्तिन थीं। श्रीकंठमल्लेश्वर का अर्थ है शिव अर्थात वे शिव भक्तिन थीं। फिर भी उन्होंने विष्णु के अवतारों में एक दाशरथी राम की कथा भक्तिपूर्वक लिखी। इसका आशय यह निकलता है कि वे शैव और वैष्णव के मतभेदों के परे थीं।

श्रीकृष्ण देवरायुलु के आस्थान के अष्ट दिग्गज कवियों में एक तेनाली रामकृष्ण कवि और कवयित्री मोल्ला से सम्बन्धित कुछ किंवदंतियाँ आन्ध्र प्रदेश में प्रचलित हैं। ये अधिकांश में अश्लील और असभ्य हैं। 'रायवाचक'—विश्वनाथ स्नापति का गद्य ग्रन्थ—नामक ग्रन्थ में विजयनगर से सम्बन्ध रखनेवाली कई कथाएँ हैं जिनके आधार पर मुख्य मुख्य घटनाओं की थोड़ी बहुत जानकारी प्राप्त की जा सकती है। इस ग्रन्थ में मोल्ला का उल्लेख भी आया है। अतः यह अनुमान किया जा सकता है कि वे श्रीकृष्णदेवरायुलु की वृद्धावस्था के समय में रही होंगी अर्थात 16 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में रही होंगी। इसके अतिरिक्त मोल्ला की जन्म-तिथि के सम्बन्ध में निश्चित सूचना देनेवाला कोई प्रमाण अब तक नहीं मिला।

कवयित्री मोल्ला की एक मात्र रचना रामायण है। यही उनकी इतनी कीर्ति का आधार है। यह बात इस तथ्य की घोषणा कर रही है

कि किसी कवि का यश उसकी रचनाओं के परिमाण के हिसाब से नहीं होता बल्कि गुण के हिसाब से होता है। मोल्ला ने भी तेलुगू भाषा के कई अन्य यशस्वी कवियों की भांति अपनी कृति को मानवांकित नहीं किया है। भक्तप्रवर पोतन्ना की भांति उन्होंने अपनी रचना के प्रारम्भ में कहा:—

चेप्पुमनि रामचन्द्रुडु
सेप्पिचिन पलुकुमीद जेप्पेद ने ने-
ल्लप्पुडु निहपरसाधन
मिप्पुण्यचरित्र तप्पुलेंचकुडु कवुल्

(श्रीरामचन्द्र का जैसा आदेश मिलेगा और वे मुझ से जो कहलाएँगे और जो इह-पर का साधन होगा, वह पुण्य चरित्र में बतलाऊँगी। कविगण मुझ में दोष न निकालें)

तेलुगू के साहित्य में रामकथा का प्रणयनमात्र कर तृप्ति प्राप्त कवियों में रंगनाथ रामायण के कवि बुद्धारेड्डी के पश्चात मोल्ला का नाम ही आता है।

मोल्ला ने अपनी काव्य-रचना के लिए आदि कवि वाल्मीकि की रामायण का आधार ही नहीं लिया बल्कि अध्यात्म रामायण के कुछ प्रसंगों को भी ग्रहण किया है। तेलुगू में मोल्ला के पूर्व भास्कर रामायण, रंगनाथ-रामायण, एर्रन्ना की रामायण, अन्नमय्या की रामायण और निर्वचनोत्तर रामायण मात्र लिखी गई थीं। इन में एर्रन्ना की रामायण और अन्नमय्या की रामायण अब तक अप्राप्त हैं। रंगनाथ-रामायण द्विपद शैली में लिखी गई और भास्कर रामायण चंदू की शैली में चार कवियों के द्वारा लिखी गई। यह एक कवि की रचना नहीं है। तेलुगू में तब तक एर्रन्ना की रामायण एक कवि के द्वारा लिखी गई जो रचना अब तक किसी के देखने में नहीं आई। मोल्ला के समय तक मोल्ला-रामायण ही ऐसी थी जो एक ही कवि के द्वारा लिखी गई। मोल्ला-रामायण की

विशिष्टता उसकी संक्षिप्तता में है। तेलुगू में कई कवियों ने रामायण को संक्षिप्त रूप में लिखने का प्रयत्न किया है; किन्तु इस कार्य में एक को भी ऐसी सफलता प्राप्त नहीं हुई जैसी मोल्ला को उपलब्ध है।

मोल्ला ने कुल 860 गद्य-पद्यों में रामायण का प्रणयन किया है। हो सकता है, मोल्ला की पूरी रामायण प्राप्त नहीं हुई हो। मोल्ला-रामायण की पद्य संख्या विभिन्न काण्डों में इस प्रकार है : —

पीठिका	24
1. बालकाण्ड	100
2. अयोध्याकाण्ड	43
3. अरण्यकाण्ड	75
4. किष्किधाकाण्ड	27
5. सुन्दरकाण्ड	240
6. युद्धकाण्ड I	121
,, II	93
.. III	137
	860

रामागण को यदि समय रूप से देखें, तो विदित होता है कि कवयित्री मोल्ला को वीर रस विशेष रूप से प्रिय था। वह पौरुष भरी नारी रही होगी। महावीर हनुमान के बल-प्रदर्शन से सुन्दरकाण्ड भरा हुआ है, तो तीन आश्वासों में लिखा लंकाकाण्ड (युद्धकाण्ड) राम-रावण के वीर-दर्प से ओतप्रोत हैं। काण्डों की पद्य संख्या ही मेरी इस उक्ति का समर्थन कर लेती है। मोल्ला ने अपने पूर्ववर्ती तेलुगू रामायणकारों की भांति उत्तर रामचरित को अपने काव्य में स्थान नहीं दिया। इसका

कारण यही रहा होगा जो हिन्दी के प्रसिद्ध रामभक्त कवि तुलसीदास के लिए रहा था--राम के उज्वल चरित्र में कोई कलंक न लगे। ऐसा विद्वानों का एक वर्ग है जिसके विचार में वाल्मीकीय रामायण में भी उत्तर-रामचरित प्रक्षिप्रांश है। अस्तु तुलसी और मोल्ला की रामायणों के संदर्भ में यह साम्य-लक्षण अत्यन्त उल्लेखनीय है। पर दोनों की भक्ति-प्रवृत्ति में कोई विशेष साम्य दृष्टिगोचर नहीं होता है। अतएव राम-कथा की मर्मस्पर्शी घटनाओं का चुनाव दोनों का एक सा नहीं रहा। मोल्ला के राम धीर नायक हैं। मोल्ला रामायण वीर रस प्रधान काव्य है और इसीसे युद्धकाण्ड अत्यन्त विस्तृत हैं और इसीलिए वीर रस का अधिक परिपाक हुआ है। अन्य रसों का परिपाक मोल्ला-रामायण में नहीं हो पाया है। वीररस प्रधान होने के कारण ही इसमें रौद्ररस के अनेक स्थल हैं।

मोल्ला-रामायण के छः काण्डों में सुन्दर काण्ड और युद्धकाण्ड अत्यन्त विस्तृत हैं। अयोध्याकाण्ड का वर्णन अत्यन्त संक्षेप में केवल 43 पद्यों में किया गया है। संक्षेप में कथा-निर्वाह करने की उनकी कुशलता सचमुच सराहनीय है। सीता स्वयंवर के समय राजा जनक के मंगाए भीमाकार भयावह शिव-धनुष को देखकर उपस्थित राजा लोग भयभीत हुए, यह जताने के लिए मोल्ला ने भीमाकार धनुष की भयानकता का ज्योतन यों किया :—

विल्ला यिदि कोंड़ा यनि
तल्लड़पडि संशयंबु तलकोन मदिलो
बल्लिदु लगु नृपनंदनु-
नेल्लरु यौदवुल नुंड़ि रेंतयु भीतिन्

"विल्ला यिदि कोंड़ा" अर्थात् यह धनुष है या पहाड़ ? इस तरह के संदेह के अनुभव द्वारा ही धनुष के आकार की भीकरता स्पष्ट होती है।

उसी संदर्भ में अर्थात् स्वयंवर के संदर्भ में विभिन्न प्रदेशों से अगणित राजकुमार आए हुए थे, इस बात की जानकारी कराने के हेतु वे लिखती हैं—"बुजंबु बुजंबुनु द्रोपुलाड़गन्" अर्थात् कंधों से कंधे भिड़ रहे हैं अर्थात् विदेहराज जनक के विशाल भवन में भी आराम से बैठने के लिए जगह नहीं है, इतने राजा लोगों ने सीता-स्वयंवर में भाग लिया !

माया-मृग के वर्णन में वे कहती हैं :–

ओड़लेल्लनु बंगारमु
पोड़लेल्लनु रत्न समिति बोलिन मेरपुल्
नड़लेल्ल नेरपि मेलगेडु
कड़लेल्ल विलास रेख कललंदोप्पेन्

(सारा शरीर सोने का, शरीर के धब्बे रत्नसमूह की झलकें, चाल अनोखी और सारे शरीर से विलास कलाएँ भासित हैं)

"नोडलेल्ल बंगारमु" (सारा शरीर सोना) इस मुहावरे का अर्थ निकलता है अत्यन्त धन सम्पन्न हो सुखी रहे। यह तेलुगू का देशज प्रयोग है। इसीलिए यह बिलकुल फ़ब गया है।

सीता वियोग के समय राम की बिरह-दशा का वर्णन कवयित्री मोल्ला ने एक ही पद्य में किया :—

"कूरलु नोटिकिन् रुचुलुगूडुट दप्पेनु दुंपटूडुलुं
गारमु तोचे जिह्वकुनु गम्मनि तेनेलु चेदुलय्ये गं-
गारये जित्तमंतयुनु गंटिकि निद्र सहिपदय्ये शृं
गारमेलर्प सीत बोडगानमि रामनृपाल मौळिकिन्

(साग-भाजियां अरुचिकर हो गईं, स्वादिष्ट मधु कड़ुवा हो गया; चित्त घबराया हुआ है; आंख नहीं लगती; शृंगारकेलि करने सीता के न दिखाई देने के कारण रामनृपालमौळि की यह दशा हो गई है)

मधुर-मधुर का कटु होना (कम्मनि तेनेलु चेदुलगुट) चित्त का बेचैन रहना (चित्तमु कंगारमगुट) जैसे प्रयोग अर्थगर्भित हैं।

रावण का सीता से यह कहना–

इंकजेयनेर रींदग तोपरू
कट्टलेरु चुट्टिपट्टलेरु
जलधि दाट लावु चालदु नरुलकु
वत्तुरेट्टु चेपुम वारिजाक्षि

(समुद्र को न सुखा सकते, न तैर सकते, न बांध सकते अर्थात न उस पर पुल बना सकते; समुद्र पार करने की शक्ति नरों में नहीं है। बताओ हे वारिजाक्षी; तुम्हारे लोग यहां कैसे पहुँच सकते हैं ?)

समुद्र पार करने में नरों की 'लावु' अर्थात शक्ति काफी नहीं होती! इसके उत्तर में सीता ने जो कहा वह भी कम सारगर्भित नहीं है। यहां भी बहुत ही छोटे-छोटे सरल शब्दों का प्रयोग हुआ जिससे कि भाव अत्यन्त प्रभावोत्पादक हो गया। जैसे—

अट्टि रामुन कीयदि यनगनेंत
लंक यननेंत दनुजुल पोंकमेंत
नी वनग नेंत नी लावु चेव येंत
चेप्पनेटिकि नीवे चूचेदवु गाक

(ऐसे राम के लिए यह क्या! लंका क्या है! दनुजों की अकड़ क्या है! तुम क्या हो! तुम्हारी शक्ति-सामर्थ्य क्या है। मैं क्यों कहूँ, तुम्हीं देख लोगे।)

इस पद्य के प्रत्येक शब्द के द्वारा रावण के प्रति सीता का उपेक्षा-भाव ही व्यक्त हो रहा है। सीता की दृष्टि में रावण अत्यन्त तुच्छ व्यक्ति

है। अतएव उन्होंने हीन (छोटे) शब्दों के द्वारा रावण के प्रति अपनी ओर अवहेलना व्यक्त की है। यह है मोल्ला की शक्ति ! यह है उनके शब्द प्रयोग की प्रभविष्णुता !

कम से कम शब्दों के प्रयोग के द्वारा अधिक से अधिक भाव-स्फूर्ति कराना मोल्ला की विशिष्टता है। 'गागर में सागर भरने' की विशेषता इनकी अपनी है। श्रीरामचंद्र की युद्ध-तीव्रता का वर्णन इन्होंने एक छोटे से छंद में कितने मार्मिक ढंग से किया है। देखिए :—

> विट दोड्गु शरमु वेडलेडु शरमुन्
>
> दिरुग मोलुचु तललु देगिन तललु
>
> नेट्टिवारिकैन नेरुगंग राकुंड
>
> रामु डेय दोड्गे रणमुलोन

धनुष पर चढाया जानेवाला बाण, धनुष से छूटनेवाला बाण; कटे हुए सिरों का फिर उग आना; किसी को मालूम ही नहीं होता, इस तरह राम रावण पर बाण चलाने लगा।)

इस प्रकार कवयित्री ने राम के अविरल बाण-संचालन की सामर्थ्य तथा राम-बाण की अमोघता और रावण के कटे हुए सिरों का बारंबार उग आना, इन सब विशेषताओं का एक साथ एक शब्द-चित्र में पिरोकर मोल्ला ने निस्संदेह गागर में सागर भर दिया।

महावीर हनुमान सीता का अन्वेषण करते हुए लंका में पहुँच गए और जानकी से साक्षात्कार होने पर रामचंद्र के कुशल समाचार सुनाने के उपरान्त उन्होंने जब सीता से शिरोरत्न मांगा तब सीता अपने संदेह का निवारण करने के हेतु बीरवर हनुमान से कहती हैं कि यदि तुम अपना निज रूप दिखाओ, तो मैं मान लूंगी कि तुम सचमुच श्रीराम के दूत हो। तब हनुमान ने अपना निज रूप यों दिखाया :—

चुक्कलु तलपूवुलुगा
नक्कजमुग मेनु पेंचि यंबरवीथिन्
वेक्कसमै चूपट्टिन
नक्कोमलि मुदमुनोंदे नात्मस्थितिन्

(हनुमान ने अपने शरीर को आकाश मार्ग में इतना बढ़ाया कि नक्षत्र सिर के फूल बने। ऐसे भीमाकार को देखकर कोमली (सीता) प्रसन्नचित्त हो गई।)

कवयित्री ने यह नहीं कहा कि हनुमान का बढ़ा हुआ आकार अंबर चुंबित है। इसमें वह लाक्षणिक सौन्दर्य नहीं है जो "आकाश के नक्षत्र हनुमान की केश-रासी में रत्नोंसे फूल हैं" में निहित है।

हनुमान के अपना निज रूप दिखाने के पूर्व ही सीता को राम-लक्ष्मण का जो परिचय देते हैं वह भी कम आकर्षक नहीं है :—

नील केघच्छाय बोलु देहमुवाडु
धवलाब्जपत्र नेत्रमुलवाडु
कंबुसन्निभमैन कंठंबु गलवाडु
बागैनयट्टि गुल्फमुलवाडु
तिन्ननै कनुपट्टु दीर्घ बाहुलवाडु
धनमैन दुंदुभिस्वनमुवाडु
पद्मरेखलु गल्गु पदयुगंबुलवाडु
चक्कनि पीन वक्षंबुवाडु
कपट मेरुगनि सत्य वाक्यमुलवाडु
रमणि ! रामुंडु शुभलक्षणमुलवाडु
इन्नि गुणमुल रूपिप नेरुगुवाडु
वरुस सौमित्रि बंगारुवन्नेवाडु

(नीलमेघ शरीरी, धवलाब्ज पत्र नेत्री; कंबुकंठी; बलिष्ट शरीरी; आजानुबाहु; गंभीर दुंदुभस्वनी; सुभगपीन वक्ष; कपटरहित सत्यभाषी; हे रमणी ! राम शुभ लक्षणी है। उनके साथ सुनहले रंग के सौमित्री हैं जो इन सभी गुणों से भूषित हैं।) इस पद्य के अन्तिम दो चरणों में लक्ष्मण के चरित्र की, रूप-रंग के साथ, झांकी बड़ी कुशलता के साथ प्रस्तुत की गई है।

सामान्यतः तेलुगू और हिन्दी दोनों में वाक्य-रचना कर्ता, कर्म और क्रिया के क्रम में होती है। किन्तु भावाभिव्यक्ति की प्रभविष्णुता की दृष्टि से यह क्रम इधर-उधर भी किया जाता है। क्रिया-पदों के विलक्षण प्रयोग करके कविता में नए प्राण फूंकने की शक्ति-कुशलता मोल्ला में है। दनुज कान्ताओं के घेरे में फँसी शोकाकुल असहाय सीता को, वृक्षपर बैठे हनुमान यह कह कर, ढाढस बँधाने का प्रयत्न करते हैं :—

"उन्नाडु लेस्स राघवु
डुन्ना डिदे कपुलगूडि युरुगति रानै
युन्नाडु निन्नु गोनि पो
नुन्ना डिदि निजमु नम्मु मुर्वीतनया !

(है अच्छी तरह राघव; है अभी कपियों के साथ उरु गति आने को; है तुम्हें ले जाने को; यह सच मानो उर्वीतनय !)

"है राम अच्छी तरह" के द्वारा राम का कुशल समाचार जताकर आंजनेय ने मानो बुझनेवाले दिए को जीवन प्रदान किया। 'अच्छी तरह राघव' (लेस्स राघवुडु) के प्रयोग में कितना ही औचित्य भरा हुआ है। राम का रहना मात्र पर्याप्त नहीं है। भला-चंगा भी रहना जरूरी है। तभी तो युद्ध में विजय प्राप्त करना और सीता का उद्धार करना संभव होगा।

सीतान्वेषण-कार्य को पूरा करके वापस आए हनुमान श्रीरामचंद्र को देखते ही कहते हैं :—

कंटिन् जानकि बूर्ण चंद्रवदनन् गल्याणि नालंकलो
गंटिन् मी पदपंकजंबुलनु ने गौतूहलं बोप्पगा
गंटिन् मीकरुणावलोकनमु विख्यातंबुगा गीर्तुलं
गंटिन् मा कपि वीर बृंदमुल लो गांभीर्य वाराभ्निधी

(देखा है पूर्णचंद्रवदना सीता को लंका में; देखा है कुतूहलवर्द्धक आपके चरण-कमलों को; देखा है आपका यश पूर्ण करुणावलोकन; देखा है हमारे वीर कपि-बृंदों में, हे गांभीर्य-वारिनिधि!)

'देखा है' (कंटिन्) इस क्रिया पद के बाद उन्होंने 'जानकी' शब्द का प्रयोग किया है। यदि 'जानकी' शब्द का प्रयोग पहले ही किया जाता तो राम को यह संदेहजनित व्यथा होती कि जानकी दिखाई दी या नहीं। इस व्यथा को सहन करने की स्थिति में राम नहीं हैं। अतएव देखा है 'जानकी' के बाद जानकी सजीव है या नहीं, इस संदेह के लिए कोई स्थान न देने के विचार से 'पूर्णचंद्र वदना' का प्रयोग किया गया है। इतना ही नहीं; हनुमान प्रसिद्ध रामभक्त है। सीतान्वेषण के कार्य की अवधि में वे अपने इष्टदेव के चरण कमलों के दर्शन से वंचित रहे। उनका वह दुख श्रीरामचंद्र के चरण कमलों के पुनः दर्शित होते ही विनष्ट हो गया। श्रीरामचन्द्र करुणासागर हैं। सीतान्वेषण के कार्य-भार से प्राप्त हनुमान के दुख का अनुमान करके वे दुखी हैं। उनके इस दुख या करुण की झलक उनके नेत्रों में पाकर अर्थात् प्रभु-वत्सलता पर हनुमान संतुष्ट हो गए। वीर कपिगणों के फिर साथ होते ही उनका उत्साह दुगुना हो गया। उत्साह वीर रस का स्थाई भाव है, इस बात को ध्यान में रखने पर वीरवर हनुमान का उत्साह भली भांति समझ में आता है, जिस उत्साह से ओतप्रोत होकर राक्षस-समूह का अंत करने को वे आतुर हैं। यह निस्संदेह सारगर्भित पद्य है और शब्द-चयन अत्यन्त नपातुला है। ऐसा शब्द चयन कवयित्री मोल्ला ही जानती हैं।

पहले कहा गया है कि कवयित्री मोल्ला ने वाल्मीकि-रामायण के अलावा अध्यात्म रामायण का आश्रय भी लिया है। मोल्ला के पूर्व तेलुगू की किसी भी रामायण में गुह नामक केवट के द्वारा श्रीरामचंद्र के पाद-प्रक्षालन का प्रसंग नहीं आया। इस प्रसंग को मोल्ला ने अपनी रामायण में यों अभिव्यक्त किया :—

"सुड़िगोनि रामुपादमुलु सोकिन धूलि वहिंचि रायि ये-
पॅड़ नोक कांत यय्योनट पन्नुग नीतनि पादरेणु वि
य्येड़ वड़ि नोड़सोक निदि येमगुनोयनि संशयात्मुडै
कडिगे गुहुंडु राघव पदपंकजयुगंबु भयम्मु पेंपुनन्"

(कहते हैं कि राम-पद-पंकज को धूल के स्पर्श मात्र से पत्थर कांता में बदल गया। यदि इनका पद-रेणु यहाँ गिरे तो मेरी यह नाव पता नहीं, क्या हो जाए। इस संशय के भय से गुहने राघव के पद-पंकज-युग का प्रक्षालन किया।)

हिन्दी के यशस्वी रामभक्त कवि तुलसीदास ने इस प्रसंग को यों व्यक्त किया :—

"छुअत सिला भइ नारि सुहाई पाहनते न काठ कठिनाई
तरनिअ मुनि घरनी होई जाई। बाट परइ मोरि नाव उड़ाई।
एहिं प्रतिपालउँ सव परिवारू। नाहिं जानउँ कछु अउर कबारू॥
जो प्रभु पार अवसि गा चहहू। मोहि पदपदुम परवारन कहहू॥
अध्यात्म रामायण में यह प्रसंग इस प्रकार आया है :—

क्षालयामि तव पादपंकजं नाथ ! दारु दृषदोः किमंतरं ?
मानुषीकरण चूर्णमस्तिते पादयोरिति कथा प्रथीयसी॥

मोल्ला और तुलसी दोनों ने अध्यात्मरामायण के इस प्रसंग को अपनी-अपनी रुचि एवं प्रतिभा के अनुसार विकसित किया है।

पौरुष की कवयित्री मोल्ला युद्ध-वर्णन में सचमुच अपना सानी नहीं रखती। राम जब अपने बाण-संचालन-लाघव तथा अमोघ शस्त्र व अस्त्रों के बावजूद महाबली रावण का अन्त नहीं कर पाए तब वे कैसे रोषपूरित वचन कहते हैं :—

"आलमुलोन वानरुल नालमु सेसिनयट्लु गादु ना
पालि करंबु नीनुदिटिन्नालु हरिपग बालुपड्डु दौ
वेल वृथापहास्यमुलु वेयि विधंबुल मानलेक ता
गालुडु कन्नुगीटे निदे कालमु दग्गरे नीकु रावणा

(वानरों के साथ जैसा युद्ध किया वैसा अब मेरे साथ चल नहीं सकता। अब मेरे धनुष से निकलनेवाला बाण तेरे माथे का लेखा मेट देगा। अब उपहासास्पद बातें वृथा हैं। लो, यमराज भी आँख मार-कर संकेत दे रहा है कि तेरा अन्त आसन्न है, हे रावण!)

ऐसे भयंकर युद्ध के सदर्भ में भी मोल्ला का मुहावरेदार प्रयोग (काल का आंख मारना) कितना फब गया! कितना प्रभावोत्पादक है।

मोल्ला ने राम का चरित्र प्रस्तुत करने में अधिकांश में वाल्मीकि का ही अनुसरण किया है। वाल्मीकि का राम पुरुषोत्तम है जो पुरुषोचित अथवा मानवोचित नैसर्गिक प्रवृत्तियों के परे नहीं पहुँचा हुआ है। राम का यही रूप मोल्ला ने भी ग्रहण किया है। अतएव युद्धोन्मुखी रोषपूरित राम की गर्वोक्तियां टोकते हुए प्रतापी रावण कहते हैं :—

'नीलावुनु नालावुनु
नालायम् सुरलु सूचि वर्णिपग ने
डालमु लोपल जूपुद
मेला गर्वोक्तु लिप्पु डिनकुल तिलका।

(तुम्हारी शक्ति और मेरी शक्ति का प्रदर्शन आज युद्ध में होगा-जिसकी प्रशंसा ऊपर के सुरगण करेंगे। भला, ऐसे समय गर्वोक्तियां समीचीन हैं! इनकुलतिलक!)

तुलसी जैसे रामभक्त कवि यह कभी सोच भी नहीं सकते कि खल रावण के मुंह से ऐसे नीति-वचन—वह भी राम के लिए निकल पड़े। किन्तु मोल्ला की भक्ति-भावना अलग है। उनका व्यक्तित्व अलग है। उनके राम मानवेन्द्र हैं जो सदैव भूषण-दूषण से अलिप्त नहीं रह सकते।

कवयित्री मोल्ला ने यह कहकर कि वे काव्यशास्त्र, काव्य की शैलियों और रीतियों से अनभिज्ञ हैं, अपना संकोच ही व्यक्त किया है। कविता किसे कहते हैं, कविता कैसी करनी चाहिए। आदि बातें वे भली भांति जानती हैं। विशेषकर तेलुगू में कविता किस तरह नहीं करनी चाहिए; यह वे सचमुच जानती हैं। उनके विचार में संस्कृत शब्द गुंफित कविता तेलुगू कविता नहीं है। मोल्ला की कविता तेलुगू देशज शब्दों और प्रयोगों से भरी हुई है। अतएव उनकी कविता की सी मिठास तेलुगू के और किसी कवि की कविता में न मिलना स्वाभाविक है। श्री कृष्ण देवरायुलु की यह उक्ति 'देश भाषलंदु तेलुगू लेस्स' अर्थात् देशभर की भाषाओं में तेलुगू बढ़ी चढ़ी है, कवयित्री मोल्ला की तेलुगू पर ही पूर्णतः चरितार्थ होती है। मोल्ला के उद्देश्य में काव्य की रचना सरल सुबोध शब्दों के जरिए नई नई रीतियों में होनी चाहिए। इसका आशय यह नहीं है कि वे अभिधा शक्ति को प्राधान्य देती हैं। काव्य-रचना में वे ध्वनि को ही प्राथमिकता देती हैं। यथा:—

"वलिवपु सन्न पय्यदनु वासिग गंदपु बूततोडुतन्
गोलदिग गानवच्चु नलिगुब्ब चनुंगव ठीवि नोप्पगा
देलुगंनि चेप्पु चोट गडु तेटलमाटल ग्रोत्तरीतुलं
बोलुपु वहिंपकुन्न मरि पोंदगुने परहादि शब्दमुल

(महीन अंचल के अन्दर से चंदन चर्चित, कुछ कुछ शान के साथ झलकनेवाले ओछे, नुकीले, सुभग उरोजों की तरह नई-नई रीतियों में छोटे-छोटे सरल शब्दों के सहारे की गई तेलुगू-कविता रमणीय न होकर लम्बे लम्बे शब्द-जाल की कविता रमणीय होगी क्या?)

इस पद्य में व्यक्त बातों के अनुसार कवयित्री मोल्ला ने निस्संदेह अपनी काव्य-रचना की है। उनकी काव्य रचना में निहित तेलुगुपन तेलुगू के और किसी काव्य में नहीं मिलता। अतएव मोल्ला-रामायण बड़ी मीठी और स्वादिष्ट बन पड़ी। इस कारण से आन्ध्र प्रान्त भर में मोल्ला की रामायण को जैसा आदर और प्रचार प्राप्त है, वैसा तेलुगु की और किसी रामायण को नहीं। शिक्षालयों में पाठ्य ग्रन्थ बनने का गौरव भी मोल्ला-रामायण को ही प्राप्त है। तेलुगू में यदि कोई राम-काव्य को पढ़ना चाहता हो, जो आसानी से समझ में आए और मनोहर लगे, उसे तेलुगू के सहृदय विद्वान निस्संकोच मोल्ला-रामायण ही सुझाते हैं। इसका कारण है। मोल्ला ने कविता क्या की—पद्य क्या लिखे ! सुरभित बेला मल्लिका पुष्प बिखेर दिए मोल्ला ने।

लेखक : श्री के. सत्यनारायण

बसवेश्वर

युग प्रवर्तक बसवेश्वर की वाणी में समाज सुधारक, धर्म सुधारक और सुभाषितकाररूपी एक त्रिवेणी संगम पाते हैं। यदि एक साथ भगवान बुद्ध और महात्मा गान्धी दोनों को देखना हो तो आप बसवेश्वर में पा सकते हैं। बुद्ध, बसव और बापू जैसे महान आत्माओं का जन्म कभी जग में एक, कभी युग में एक हुआ करता है। खासकर बापू और बसव में एक तरह से फडकती हुई समानता को देखकर दांतों तले उंगली दबाए बिना बनता नहीं है।

बसवेश्वर के समय की राजनीतिक और धार्मिक आंदोलनों की जानकारी रखना आवश्यक होगा।

11 वीं और 12 वीं शताब्दियाँ सारे संसार में धर्म के आंदोलन की दृष्टि से ज्यादा महत्व रखती हैं। योरप में पुनरुत्थान की गतिविधियों का सूत्रपात हो रहा था। भारत में शैव और वैष्णव धर्मों का पुनरुत्थान जोर पकड़ता जा रहा था। उत्तर भारत में मुसलमानों का अड्डा जमता जा रहा था। दक्षिण भारत में शैव और विशेषत: दक्खन में वीर शैव धर्म का प्रचार खूब तेजी के साथ हो रहा था।

दक्खन के एक बड़े हिस्से पर चालुक्य संतति का राज जो करीब 200 वर्षों से कायम रहा, उसकी जड़ अब हिल चुकी थी। दक्खन के उत्तर में देवगिरि के यादव लोग और दक्खन के दक्षिण में द्वारसमुद्र के होयसल लोग शक्तिशाली होते गए। नारमुडिलैल या त्रैलोक्यमल्ल नामक चालुक्य राजा के यहाँ एक साहसिक सेनापति और मंत्री हुआ। उसका नाम बिज्जल था। वह स्वामिद्रोही था। ई. 1161 में राजा के विरोध में विद्रोह करके सिंहासन का बलापहार (Usurp) कर लिया और स्वयं राजा बन गया। कल्याण नगरी उसकी राजधानी बनी।

बसवेश्वर का जीवन :—

11 वीं शती में बिजापूर जिले के बागेवाडी में शैव ब्राह्मण जाति के मादिराजा और मादलांबिका रहते थे। उनको करीब ई. 1128 बैशाख सुदी तीस को एक पुत्र का जन्म हुआ। उसका नाम बसँव रखा गया। यह लड़का बड़ा होशियार तथा होनहार प्रतीत हुआ। कहा जाता है कि धार्मिक प्रवृत्तिवाला होने के कारण उसने अपने बचपन में ही शैवगमों का अध्ययन किया। जब वह आठवें साल की उम्र को प्राप्त हुआ तब उसके माता-पिता ने उसे ब्राह्मणों के यहां प्रचलित मताचार (Religiousrites) के अनुसार उपवीत संस्कार करने की तैयारियाँ कीं; पर बेकार ! बसव ने उस उपवीत को "कर्मलता" कह कर वैदिक धर्म को कर्मकाण्ड प्रधान बताकर उस उपवीत का धारण नहीं किया। साथ ही बसवने अपने को शिवजी के एक विशेष प्रकार का भक्त घोषित किया।

अब बसव से घर में नहीं रहा गया। वह घर से बिदा होकर पास के कप्पडीं गाँव पहुँचा। मालापहारी और कृष्णा नदी संगम पर स्थित संगमेश्वर को अपना आराध्य देवता मानकर आध्यात्मिक अध्ययन में लग गया। ऐसा प्रसिद्ध है कि वहाँ उसे जातवेद नामक एक पहुँचे हुए मुनि का मार्गदर्शन प्राप्त हुआ।

यह बताया जा चुका है कि उस समय कल्याण देश का राजा बलापहारी बिज्जल था। उसके प्रधान मंत्री का नाम था बलदेव। वह

रिश्ते से वसव का मामा लगता था। उसने बसव की प्रतिभा और साहस से प्रभावित होने के कारण अपनी पुत्री गंगाम्बिका का विवाह बसव से करा दिया। इसके पश्चात् कुछ ही दिनों में बलदेव स्वर्ग सिधार गया। तब तक बिज्जल भी बसव के व्यक्तित्व से काफ़ी प्रभावित रहा। तो राजा ने बसव को कल्याण राज्य के प्रधान मंत्रित्व स्वीकारने के लिए बुलावा भेजा। बसव अब दुविधा में पड़ा। जहाँ प्रधान मन्त्री-पद स्वीकारने से शैवधर्म के खूब प्रचार करने में सुविधा थी वहाँ सारे कल्याण के राजकाज में अपने को खपाने से अपने आध्यात्मिक जीवन में धक्का पहुँचने का डर भी था। राजा बिज्जल के बहुत मनाने से बसव मान गया और प्रधान मंत्री बना।

राजा के पास अपने दूसरे मंत्री सिद्दण्णा की उदारता से दत्तक में ली गई एक कन्या थी। उसका नाम नीलांबिका था। राजा ने बसव को और प्रसन्न रखने के लिए नीलांबिका की शादी उससे करा दी। बसव ने दिलोजान से कल्याण नगरी के कल्याण के लिए अथक परिश्रम किया। राज्य के शासन में कई सुधार लाया। देश को संपन्न बनाया और राजकोष को संवृद्ध किया। राजा ने अपने प्रधान मंत्री के इन कार्यों पर अपनी प्रसन्नता प्रकट की; परन्तु यह प्रसन्नता अधिक दिनों तक नहीं रही। क्योंकि राजा सनकी मिजाज का आदमी था। याद रखना चाहिए कि राजा विट्ठल स्वयं बलापहारी होने के नाते स्वामिद्रोही था। अलावा इसके राजशक्ति किसी को भी अधिक उन्नत नहीं देखना चाहती है। यहाँ तो बसव लोकप्रिय बनता जा रहा था। विशेषत: बसव के सामाजिक एवं धार्मिक सुधार अत्यन्त क्रांतिकारी थे। बसव जाति की रीढ़ तोड़कर एक जात्यातीत राष्ट्र (Secular State) का निर्माण करने लगा। धर्म व्यवहार योग्य बना दिया जाने लगा। 'अनुभव मंटप' की नींव डाली गयी। भारत के कोने-कोने से लोग बसव के यहां खिचे आने लगे। वीरशैव धर्म का प्रसार व प्रचार दिन दो गुना और रात चौगुना होने लगा। राजा अब सचमुच बसव से भय खाने लगा। इसलिए वह बसव को दबाने के लिए समय की ताक में रहा।

ब्राह्मण कुलोत्तम मधुवरस की पुत्री का विवाह अस्पृश्य जाति के हरलय्या के पुत्र से बसव ने कराया। राजा आग बबूला हो गया। ब्राह्मण देवताओं में खलबली मची। प्रजा को भड़काया गया। बसव ने प्रजा को बहुत समझाया; पर बेकार। बसव अपने मंत्रीपद को पटककर कुंडल संगम देवता के मंदिर की ओर रवाना हुआ। इससे बसव के अनुयायियों को राजा पर क्रोध हुआ। इसी सिलसिले में इधर राजा बिज्जल का वध हुआ। उधर बसव अपने इष्टदेवता संगमेश्वर में ऐक्य हुआ : गांधीजी जैसे बड़े-बड़े लोग अपने ही सिद्धांत के शिकार आप बने हैं। और ठीक वैसे ही बसव भी अपने ज्यात्यातीत राष्ट्र सिद्धांत का शिकार करीब 1168 ई. में आप बना।

बसव तथा समाज सुधार :—

12 वीं शती में वर्णभेद, जातिभेद, लिंगभेद एवं वृत्तिभेद रूपी कराल साँप अपनी हजारों जिह्वाओं से मानव समाज को यत्र तत्र सर्वत्र डस रहा था। अंधश्रद्धा का अंधकार दशदिशाओं में फैला हुआ था। अर्थशून्य कर्मकाण्ड के बोझ से मानव समाज की रीढ़ झुककर अब टूटने को थी। संक्षेप में कहना हो, कह सकते हैं कि जीवन एक अभिशाप बना था।

वर्णभेद अपनी प्रारम्भिक दशा में भले ही वैज्ञानिक रहा हो परन्तु इस समय वह बिलकुल अवैज्ञानिक-सा बना था। क्योंकि अब वर्णभेद का आधार गुण, शील, विद्या न रह करके केवल जाति ही उसका एकमात्र आधार बनी थी। कहने का तात्पर्य यह है कि ब्राह्मण के यहाँ पैदा होनेवाला कितना ही गुणहीन विद्याविपन्न और चरित्रहीन क्यों न हो, वह ब्राह्मण कहा जाता था और समाज रचना के उच्चपद पर उसे बिठाकर उसका सम्मान किया जाता था। ठीक वैसे ही किसी शूद्र के यहां पैदा होनेवाला कितना ही गुणशील, विद्यासंपन्न और चरित्रवान क्यों न हो, वह शूद्र ही कहा जाता था और समाज रचना के निचले पद पर उसे ठुकराकर उसका अपमान किया जाता था।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नामक ये चारों वर्ण हजारों जातियों का मायका बने। इससे समाज वेढब बना। मानवता की बली हो गयी। आदमी-आदमी के बीच की इस असमानता के कारण द्वेष का तांडव होने लगा और घृणा फैलने लगी। जनता विनाश की ओर बढ़ी जा रही थी।

तभी तो बसव ने जाति की रीढ़ को ही तोड़ने का बीड़ा उठाया। उसने एक ऐसे जात्यातीत राष्ट्र की कल्पना की जहाँ अंतर्जातीय विवाह हो। सामाजिक दृष्टि से कोई किसी से बड़ा न रहे और कोई किसी से छोटा न रहे। याद रखना चाहिए कि अभी-अभी भारत ने जात्यातीत राष्ट्र बनने की दिशा में जो कदम उठाया है, वह कोई आठ सौ वर्ष पहले बसव से अमल में लाया गया था। बसव ने जोरदार शब्दों में कहा:—
"हत्यारा हीं अंत्यज है, अभक्ष्य खानेवाला ही चांडाल है। जाति किस चिडिये का नाम है ?

नहीं तो उन हत्यारों और चांडालों की जाति है कौनसी?"

कुछ लोगों को संदेह हो सकता है कि बसव ने वीरशैव धर्म के प्रचार करने के द्वारा वीरशैव नामक एक जाति का निर्माण किया। अतः वह जिस जाति नामक गड्ढे से पार उतरना चाहता था उसी का शिकार आप बना। यहां लोग भूलते हैं। बसव ने उस समय विद्यमान हजारों जातियों की संख्या के साथ एक और जाति जोड़ने की कोशिश कदापि नहीं की। ठीक इसके उल्टे समग्र जातियों को समूल नष्ट करने का भरसक प्रयत्न किया। हाँ, शिव भक्ति की डोरी में सबको बाँधना चाहा। जाति से कोई वीरशैव नहीं बन सकता था। गुण से भक्ति से कोई भी वीरशैव बन सकता था। वीरशैव बनने के बाद किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जाता था। क्योंकि सह-भोजन और सगाई-सम्बन्ध जारी रहे। बसव ने कहा :—

'कुल तो चाहे जो हो हमारा क्या ? शिवलिंग युक्त ही कुलीन है।'

शरणों में जाति साँकर्य हो जाने के बाद कौन उनके कुल का छिद्रान्वेषण करे ?

श्लोक—शिवेजाता कुले धर्मं पूर्वजन्म विवर्जितः
उमा माता पिता रुद्रो ईश्वरः कुलमेवचा ॥

हे कूडल संगम देव ! इसके अनुसार उनके यहाँ प्रसाद ग्रहण करूंगा, सगाई-संबंध करूँगा और शरणों पर विश्वास भी रखूँगा ।' एक जगह बसवने कहा है :–

"देव ! हे देव ! कछु बिनति सुनो मोरी
विप्र से लेकर अंत्यज तक चाहे जो हों
यदि वे शिवभक्त बने हैं तो उन सबको मैं समान मानता हूँ"

गौर से देखने की बात यह है कि शिवभक्ति ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और क्षूद्र आदि सब के आपसी ऊँच-नीच के भेदभाव को मिटाकर सबको, एक ही स्तर पर लानेवाली Leveller बनी थी। चेन्नय्या अछूत था कक्कय्या डोहर था, किन्नरी बोम्मय्या सुनार था, मधुवय्या ब्राह्मण था, पर ये सब समान माने गये शिवभक्ति के समतल सपाट मैदान में !

वृत्तिभेद एक दूसरा सांप था जिसने समाज को अत्यन्त विषैला बना दिया था। एक ओर वह जाति सूचक थी और दूसरी ओर वह थी सामाजिक स्तर का मापदंड। आज भी हम देखते हैं कि लोगों में यह धारणा बनी हुई है कि मानसिक वृत्ति दैहिक परिश्रम से की जानेवाली वृत्ति से कहीं गुने ऊँचे है। याने चहर दिवारी के भीतर बैठकर की जानेवाली क्लर्की बाहर खेत में की जानेवाली कृषि से बेहतर समझी जाती है। बीसवीं सदी में भी जब यह हाल है तब 12 वीं सदी की बात कौन कहे !

कसवने वृत्ति को न जाति-सूचक ठहराया और न किसी की उच्चता या नीचता का द्योतक। सभी वृत्तियों को आपस में एक दूसरे के बराबर

माना। वेदों को पढ़कर शास्त्री बनना उतना ही महत्व रखता है जितना कि कपड़ों को धोकर धोबी बनना। शौचगृह शुद्ध करनेवाले की वृत्ति भी उतनी ही पवित्र है जितनी कि जंगम बनकर दीक्षा देना। तभी तो बसवने कहा :—

"लोहा गरमाने से लुहार बना, कपड़ा धोने से धोबी बना, बुनने से जुलाहा बना, वेद पढ़ने से ब्राह्मण बना, कानों से जन्म लेने वाला कोई है इस संसार में ?"

अतः बसवने जोरदार शब्दों में बताया कि वृत्ति कदापि जाति सूचक नहीं होती है। वृत्ति गौरव या अगौरव सूचक भी होती नहीं है। वृत्ति ऊँच नीच नहीं होती है और न होनी चाहिए। सभी वृत्तियां गौरववान ही होती हैं और होनी भी चाहिए। इसी वृत्ति को आजीविका भी कह सकते हैं। याने वृत्ति एक जीवनोपाय है। और इसी जीवनोपाय को बसवने अपनी पारिभाषिक शब्दावली में 'कायक' कहा है। कायक बहुत सुन्दर और अर्थपूर्ण शब्द है। शरीर से किया जाने वाला परिश्रम 'कायक' है। दूसरे शब्दों में इसी को दैहिक परिश्रम कह सकते हैं। दुनिया जानती है कि बिना किसी जीवनोपाय से जीना मुश्किल है। क्यों कि अच्छा या बुरा जीवन बिताने के लिए भी कम से कम जीवित रहना पड़ता है। जीवित रहने के लिए कोई न कोई जीवनोपाय नितांत आवश्यक हो जाता है। अतः वृत्ति का अगौरव नहीं करना चाहिए। हाँ, अमीरों के पास आजीविका का प्रश्न उतना कड़ा नहीं होता है। परंतु बसवने कहा कि यह अमीरी या गरीबी का प्रश्न नहीं है। स्वावलंबन का, स्वतंत्र जीवन का सवाल है। स्वावलंबन की झलक पर कुबेर का सारा कोष निछावर करने योग्य हो जाता है। जो आदमी आर्थिक दशा से स्वतन्त्र रहता है वह अपने विचारों में भी स्वतन्त्र रह सकता है। विचार स्वातन्त्र्य तथा वाक् स्वातन्त्र्य ही आदमी को आदमी बनाते हैं। चाहें लखपति हो चाहे भिखपति हो। किसी को भी परान्नभोजी (Parasite) नहीं बनना चाहिए। क्योंकि इससे बदतर जीवन दूसरा नहीं है। आजी-

विका पर प्रत्येक मानव का हक होता है। अपने पेट के लिए अपनी कमाई से बेहतर चीज और क्या हो सकती है। अपनी कमाई की रोटी में जो स्वाद एवं आनन्द मिलते हैं वे पराये की मिठाई में भी कहां मिलें ? गांधीजी तो बराबर कहा करते थे कि हर एक आदमी को प्रतिदिन कम से कम आठ घंटों का दैहिक परिश्रम करना चाहिए। दैहिक परिश्रम किए बिना जो भोजन किया जाता है वह परान्नभोज है। अत: वह स्तेय है, चोरी है। गाँधीजी ने यह कहा था कि धनोपार्जन अधिकार किसी को भी नहीं जो आदमी आजीविका से अधिक धन लेता है और स्वार्थ से उसका संचय कर लेता है वह चाहे जान में हो या अनजान में दूसरों की आजीविका छीनता है। अत: यह भी स्तेय है, चोरी है। कोई आठ सौ वर्ष पहले बसवने इसी सिद्धांत को कार्यगत किया था। उसने यह भी कहा था कि भिक्षा वृत्ति कोई वृत्ति नहीं है। और वह जीवन के लिए एक अभिशाप है। जंगम लोगों के लिए भी कायक करना अनिवार्य था। क्योंकि अपनी ओर से भगवान को वही चीज अर्पित करने योग्य होती थी जो अपनी निजी कमाई की हो। बसवने इस कायक पर धार्मिक मुद्रा का जादू चढा दिया था। बसव के अनुसार हर एक आदमी को प्रतिदिन कायक करना पड़ता था। अपने लिए कायक चुनने में वह स्वतत्र था। उसके बाद ऋजु मार्ग में ही उसे अपना कायक करना पड़ता था। विशेषत: कायक में तृप्ति की भी बात थी। उस दिन के लिए अपने या अपने परिवार के लिए जितना चाहिए था उतना ही कमा लेना पड़ता था। उससे ज्यादा कमाना साधु नहीं था। फिर उस दिन की कमाई को सबसे पहले भगवान शंकर के लिए अर्पण करना पड़ता था। यह समझा जाता था कि भगवान इससे प्रसन्न होकर प्रसाद के रूप में उस चीज को लौटा देगा। तब उसका ग्रहण करके उस दिन की गुजार से मुक्त होता था। उसे न कल की फिक्र होती थी और न निराशा की भावना हो जगती थी। भगवान पर भरोसा रखकर और उसी का गुणगान करते हुए रात को सो जाना पड़ता था। उदाहरण के लिए बसव के एकाध वचन लीजिए :—

"सुवर्ण में से एक रेखा, साड़ी में से एक धागे को आज के लिए या कल के लिये चाहिए करके उसकी अपेक्षा करूं तो,

तुम्हारी सौगंध ! तुम्हारे पुराने भक्तों की सौगंध !"

मैं अपने तन के तिलमिलाने से डरकर तुमसे "बचाओ" नहीं कहूंगा।

जीवनोपाय से डर खाकर मैं तुम से याचना नहीं करुँगा।

'यद् भावं तद् भवति' संकट आवे चाहे संपद आवे 'चाहिए; नहीं; नहीं कहूँगा'।

हे कूडल संगम देव ! न तुम्हारा मुँह ताकूंगा और न मनुजों से मांगूंगा ; सौगँध है तुम्हारी सौगंध है।' तिस पर "अगर मैं 'मृडदेव प्रणाम'" कहकर भीख माँगने जाऊँ तो तुम वहाँ उनसे 'आगे चल देव' कहाओ प्रभु ! सामाजिक विषमता को दूर करने में और समता की स्थापना करने में बसव के कायक की यह योजना कार्ल मार्क्स(Karl Mark) के सिद्धांत से भी उदात्त रही है । उदात्त इसलिए कि कायक भगवान के लिए किया जाता था। हर एक दिन की कमाई भगवान के लिए पहले चढ़ायी जाती थी और बाद को भगवान से प्राप्त प्रसाद के रूप में उसका ग्रहण किया जाता था। जब भगवान के लिए चढ़ाना पड़ता था तब ऋजु मार्ग से ही आजीविका कमानी पड़ती थी। अतः धर्म की मुहर कायक पर लगाई गयी थी। (न अमीर न गरीब परान्नभोजी बनता था।) हर एक आदमी उद्यमी होता था। इससे सुन्दर समाज की आर्थिक व्यवस्था और क्या हो सकती है ? क्या बीसवीं सदी का समाजवाद या साम्यवाद बसव के इस 'कायकवाद' से होड़ ले सकता है ? तभी तो सभी ने मुक्त कंठ से कहा है कि "कायक ही कैलास" है ! याने किसी भी उद्यमी तथा धर्मभीरु आदमी को अपने कायक के अच्छी तरह से करने में ही स्वर्ग-सुख का आनन्द प्राप्त होना चाहिए। इस तरह बसव मर्त्य-लोक पर ही कैलास को उतार लाया !

लिंगभेद तो उस समय इतना किया माता था कि कोई क्या कहे ! धार्मिक क्षेत्र में कौटुंबिक जीवन को कोई मान्यता नहीं दी गयी थी। और वहाँ स्त्री तो खासकर बाधक समझी गयी थी। स्त्री को धर्म ग्रंथों के अध्ययन की मनाही थी। वह मुक्ति पाने योग्य नहीं समझी गयी थी। सारे संसार की खराबी की एक मात्र मायका स्त्री मानी गयी थी।

ऐसे समय पर बसव ने स्त्रियों को तार दिया और अबलाओं को बिलकुल सबलाएँ बना दीं; लिंगभेद को हटा करके स्त्री को पुरुष के समान घोषित किया। धर्म ग्रंथों के अध्ययन की कैद को उठा दिया और वह बाधक नहीं बल्कि साधक मानी गयी। मुक्ति के अधिकारी ठहरायी गई। कौटुंबिक जीवन को धार्मिक क्षेत्र में भी काफी मान्यता दी। बसव ने कहा कि "सतिपतियों की समरस भक्ति को भगवान शंकर सानंद स्वीकारते हैं। स्वयं बसव शादी-शुदा था और उसके अनुयायियों में से मोलिगे मारय्या आदि दर्जनों विवाहित थे। मान्य दिवाकरजी ने बताया है कि उस समय कोई तीस स्त्री वचनकार थीं। महादेवीजी तो लोक प्रसिद्ध हैं। महादेवीजी को तो बसव आदि सभी शिवशरणों ने "अक्का" याने 'बड़ी बहन' कहकर उनके प्रति अपना गौरव सूचित किया है।

इस तरह से बसवने समाज का सुधार उसके हर एक पहलुओं को ले लेकर किया है। अतः वह सर्वांगीण सुन्दर बन गया।

बसव तथा धार्मिक सुधार :—

12 वीं सदी का धार्मिक वातावरण हद से ज्यादा दूषित रहा। कर्मकांडों के बोझ से धर्म दब गया था। अंधश्रद्धा और अज्ञान के कारण धर्म का स्वच्छ रूप कहीं भी देखने नहीं मिलता था। अर्थहीन बाह्याचरणों की धूम मची थी। बात बात पर जप-तप, यज्ञयाग, व्रत-उपवास और तीर्थयात्रा का राग आलापा जाता था। कभी कभी 'मारी मसनी' आदि देवताओं के लिए बेकसूर भेड़-बकरों की बलि चढ़ायी जाती थी। बाह्याचरण खोखले थे। कथनी जैसी करनी नहीं थी। कोई तेंतीस करोड़ देवताओं की पूजा होती थी। गृहदेवताओं की (Domestic God)

प्रथा प्रचलन बीसवी सदी के इस विज्ञान युग में भी जब है तब उस अज्ञान युग की बात कौन कहे ! स्वर्ग की कल्पना अजीब की गई थी। इस लोकजीवन की अवहेलना की गई थी। संसार को एक सराया घर समझा गया था। हर किसी की आंखें ऊपर स्वर्ग की ओर खिंची रहती थीं। याने लोग पलायनवादी बने थे। बसवने युगधर्म को पहचाना और बहुदेवोपासना का खंडन किया। देखिए :—

"कंघी एक देवता, धनुष्य की सिंजिनी एक देवता, पतेली एक देवता और टोंटेदार लोटा भी एक देवता ! यह एक देवता और वह एक देवता कहकर अपने पग धरने के लिए भी खाली जगह न रख छोड़ी है ! !"

ऐसा मालूम होता है कि भारत में जितने भारतीय थे उनसे भी ज्यादा उनके देवता लोग थे।

बसव ने बताया कि भगवान के नाम भले ही कई हों पर वह होता है एक ही—

"देव तो होता है एक ही; पर उसके नाम होते हैं कई
परम पतिव्रता का पति होता है एक ही।"

भगवान को प्राणिबलि चढ़ाने के बदले में भक्ति चढ़ाने को कहा। ध्यान देने की बात है कि तब यज्ञयागादि के समय ब्राह्मण लोग भी प्राणि-वध करते थे। अश्वमेघ यज्ञ का आखिर अर्थ क्या है ? घोड़े को बलि देना है। बसवने अत्यंत मार्मिकता के साथ एक निर्दोष बकरे के प्रति अपने उद्गार यों निकाले हैं :—

"हे बकरा : बात की बात में अपने को मार डाला है करके तू रो, समझा। वेदाध्यायियों के सामने रो, समझा !

शास्त्रज्ञों के सामने रो समझा ! ....

याद रखना चाहिए कि वेदों में, शास्त्रों में प्राणि बलि के लिए मान्यता दी गई है! तभी तो यहाँ बसवने वेद और शास्त्रों पर व्यंग्य कसा है। जब अत्यन्त विवेकी ब्राह्मणों की यह हालत थी तो अविवेकियों का वर्णन कौन करे! बसवने बड़े ही मर्मभेदी शब्दों में यों कहा है :—

"सूप के तले रख पूछा की जानेवाले छोटे-छोटे देवों को भेड़ चढ़ाकर खुशियाँ मनाते हैं।

क्या उसकी रक्षा जिनसे भगवान रूठ गया है भेड़ कर सकेगी मर कर ?.................."

प्राणि हिंसा न करके भूतदया से काम लेने के लिए उसने भांति-भांति से अनुरोध किया है। बुद्ध और गान्धीजी ने भी बताया कि 'अहिंसा परमो धर्मः।' परन्तु बसवने एक कदम आगे बढ़कर बताया कि "दया ही धर्म की जड़ है"। दूसरे शब्दों में अहिंसा की जड़ दया या करुणा (Sympathy) है। केवल हिंसा न करना दया नहीं है। बसव का यह लोकप्रिय बचन लीजिए :—

"दया रहित धर्म कौन है भाई ?
दया ही अपेक्षित है समस्त प्राणि जगत में,
दया ही धर्म की जड़ है भाई;
ऐसों के बिना अन्यों को पसंद कूडल संगय्या करता नहीं हैं।"

बसव ने दुनिया को न माया घर बताया, न संसार को सराया घर बताया और न स्त्री को मुक्ति मार्ग की मारक शक्ति ही। उसने कथनी और करनी पर जोर दिया। स्वर्ग, मर्त्य और पाताल लोक की नयी व्याख्या सुनाई और जीवन को जीने योग्य बताया। आदमी को पलायन-वादी बनने से बचाया। आत्मपक्ष के साथ लोकपक्ष का समावेश किया। वैयक्तिक कल्याण के साथ लोक कल्याण की उदात्त भावना का प्रचार किया। जनता के दृष्टिकोण को ही बदल डाला। बसव ने कहा :—

"स्वर्गलोक मर्त्यलोक और नहीं हैं जान लो भाई, सत्य बोलना ही देवलोक है और असत्य बोलना ही मर्त्यलोक। आचार ही स्वर्ग है और है अनाचार ही नरक.........

यदि स्वर्ग नामक दूसरा लोक भी हो तो मर्त्यलोक के जीवन पर ही बसवने जोर दिया है :—

"हे कूडल संगम देव !
सृष्टिकर्ता का टकसाला है मर्त्यलोक
यहाँ चलनेवाले सिक्के वहाँ भी चलते हैं,
यहां न चलनेवाले सिक्के वहाँ भी नहीं चलते हैं।"

बसवने कहा कि इन्द्रिय भोग करना कोई पाप नहीं है, विवाह करना कोई अपराध नहीं है; परन्तु परस्त्री पर नजर दौड़ाना बड़ा पाप है।

"इन्द्रिय निग्रह करूँ तो उपजेंगे कई दोष
सामने आ आ कर बारंबार सताएँगी पंचेद्रिय !"

ऐसे कई निदर्शन उसके पास थे जिन्होंने भोगी बनाकर भी भगवान का साक्षात्कार किया हो !

"सतिपतिरतिसुख को क्या तजा सिरियाल चंगलाने ?
सतिपतिरतिसुख भोगोपभोगविलास को क्या तजा सिंधु बल्लालने ?"

इसके साथ-साथ उसने लोगों को चेतावनी भी दी है :—

"आँख नहीं उठाना चाहिए पर स्त्री पर, मुँह नहीं खोलना चाहिए पर स्त्री से, हरगिज मूँह नहीं खोलना चाहिये; भेड़ के पीछे-पीछे जानेवाले कुत्ते के समान नहीं बनना चाहिए। ऐसी एक लालसा के पीछे हजारों वर्षों तक नरक में गिरा देता है कूडल संगम देव।"

ध्यान देने की बात यह है कि गान्धीजी के ब्रह्मचर्य की व्याख्या इससे बिलकुल मेल खाती है।

जप-तप, याग-यज्ञ, व्रत-उपवास, तीर्थयात्रा आदि बाह्याचरणों की कड़ी आलोचना की है बसवने। क्या वीरशैव क्या वीरशैवेतर दोनों को फटकार सुनायी है। कबीर की याद एकबार अपने से हो आती है। बसव के अनुसार :—

"मृदु वचन ही समस्त जप है
मृदु वचन ही समस्त तप है
सद्विनय ही सदाशिव को रिझाने का तरीका है।

ब्राह्मणों की आलोचना करते हुए कहा है :—

"हे प्रभो ! तुम्हें न समझने के कारण हाथ में घास पूस !
तुम्हें प्रणाम न करने के कारण गले में पाश !
मरोड़ना क्यों कर, धोना क्यों कर ?
नाक पकड़कर डुबकी बारम्बार लगाना क्यों कर ?

फिर वीरशैवों को फटकार सुनाते हुए कहा :—

"बाहर लेप कर क्या कर सकूंगा जबतक भीतर शुद्ध नहीं है ? बाहर रुद्राक्षी बांधकर क्या कर सकूंगा जबतक मन उन्हें स्पर्श करता नहीं है ?

सैकड़ों पढ़कर क्या कर सकूँगा जबतक हमारे कूडल संगमदेव को मन से ध्यान नहीं करता हूँ।" तब क्या करना चाहिए ? बसव ने इसका जवाब यों दिया है :—"चोरी करो मत, हिंसा करो मत, झूठ बोलो मत; कुपित होओ मत, औरों के प्रति घृणा करो मत; अपनी स्तुति आप करो मत; औरों की निंदा करो मत; अंतरंग शुद्धि यही है, बहिरंग शुद्धि भी यही है; यही हमारे कूडल संगमदेव को रिझाने की रीत है।'

जाति, जनन, मरण, आदि पंच सूतक वास्तव में पंचभूत बनकर समाज पर हमला कर रहे थे। वैसे तो शैव सिद्धांत में इन सूतकों का खंडन किया गया है। बसवने तो इन सूतकों को दे मारा। क्यों कि इन सूतकों के मारे जनता हैरान हो गयी थी। सूतक से मुक्त, बाह्याडंबर से रिक्त, भक्ति से युक्त सुमधुर जीवन बिताने को कहा। भगवान का साक्षात्कार करने के लिए केवल भक्ति चाहिए :—

"राह भटक कर तड़पो मत, विभूति खरीद लाओ मत;
प्रसन्नता से एकबार "शिव प्रणाम" कहो भाई;
कूडल संगम देव भक्ति-लंपट होने के कारण
शिव शब्द लेनेवाले को वह मुक्ति प्रदान करेगा।"

और वह भी निजी भक्ति होनी चाहिए :—

"अपनी भूख मिटाने व अपनी पत्नी से समागम करने के लिए कोई अपने बदले में किसी दूसरे से कह सकता है क्या ? करनी चाहिए भक्ति मन से; करनी चाहिए भक्ति तन से।

इस तरह बसव ने धार्मिक क्षेत्र में 'युगाँतर' उपस्थित किया। यह सब अकेले बसव से कैसे साध्य हुआ, यह पूछा जा सकता है। बसव केवल एक व्यक्ति नहीं था, वह एक समाज था। बसव ने एक खास गोष्ठी की स्थापना की थी और उसका नाम "अनुभव मंटप" रखा था। धार्मिक विषयोंपर विचार विमर्शन करना इस संस्था का उद्देश्य था। इससे बसवने खूब लाभ उठाया।

बसव तथा "अनुभव मंटप"

वीरशैव धर्म को अधःपतन से बचाने की दृष्टि से बसवने "अनुभव मंटप" संस्था की स्थापना की। बौद्धधर्म, ब्राह्मणधर्म एवं जैनधर्मों के अधःपतन का एक जबर्दस्त कारण यह था कि वे धर्म बुद्धिबल के आधार पर खडे किए थे। उन धर्मों में हृदयपक्ष से अधिक बुद्धिपक्ष का समावेश

था। उनमें विशेषतः अनुभूति की कमी थी। पूरे के पूरे आदर्शवादी थे और उन आदर्शों की संभवता (Possibilities) और असम्भवता (Impossibilities) पर ख्याल नहीं दिया गया था। तभी तो उन धर्मों का पतन आसानी से हो सका। इसी कमी को दूर करके और चिरन्तन अनुभूति के स्पंदन को स्थान देने के लिए ही इस "अनुभव मंटप" का निर्माण बसवने किया। आदमी की पहुँच के बाहर के धर्म या आदर्श से वास्तव में क्या फायदा है ? कुछ भी नहीं। उस तत्वशास्त्र (Philosophy) से क्या लाभ जिससे किसी की भी रोटी पकती नहीं हो ?

अनुभव मंटप अनुभवी लोगों की एक मंडली थी। इस मंटप (मडप) का आधार स्थम्भ (Pivot) स्वयं बसव था। अछूत चेन्नय्या, होहर कक्कय्या, इसके वयोवृद्ध अनुभवी सदस्यों में थे। महाज्ञानी अल्लम प्रभु इसके अध्यक्ष थे। अक्कमहादेवी स्त्री सदस्याओं की प्रतिनिधि थीं। अध्यक्ष का आसन 'शून्य सिंहासन' कहा जाता था। बसव के घर के एक बड़े दालान में यह गोष्ठी जमती थी। सभी सदस्य एक दूसरे को अपने भाई ही नहीं बल्कि अपने बड़े भाई समझा करते थे। बसव ने तो अपने बारे में कह लिया है कि "मुझसे कोई छोटा नहीं है और शिवभक्तों से कोई बड़ा नहीं है। हे देव ! तुम्हारे दास की दासी का दास हूँ मैं।" एक दूसरी जगह बसव ने कहा है :—

> "पिता हमारे अछूत चेन्नय्याजी हैं
> पितामः हमारे डोहर कक्कय्याजी हैं
> प्रपितामह हमारे चिक्कय्याजी हैं......"

इस तरह उस अनुभव मंटप में जातिभेद, वृत्तिभेद, लिंगभेद की गंध तक नहीं थी। इन सदस्यों के रहने के लिए कुछ ही दूर पर गुफाएँ बनी थीं और उन गुफाओं और कंदराओं को आज भी कल्याण नगरी के आसपास में देख सकते हैं।

भारत के धार्मिक इतिहास में यह संस्था अपूर्व और अनूठी रही है। क्योंकि अंतर्जातीय-भोजन, अन्तर्जातीय-विवाह, अन्तर्धर्मीय-चर्चा खुले तौर किये जाते थे। धर्म और आदर्शों की सामान्य जनता की दृष्टि से साध्या-साध्यताओं के बारे में चर्चा करके सुन्दर तथा बढ़िया निर्णय पर पहुँचते थे। बसव के सारे सुधारों का टकसाला यहीं संस्था थी।

यह जानकर दुनिया को आश्चर्य होगा कि जैसे गाँधीजी के पास देश-विदेश के लोग अपने से खिंचे आते थे वैसे ही बसव के पास भारत के कोने-कोने से लोग आकर्षित हो कर आ घेरते थे। क्या पांड्य, क्या चोल, क्या गुजरात, क्या उत्कल और क्या नेपाल सभी जगहों से लोग बसव के यहाँ आ जमते थे। काश्मीर का राजा तो राजगद्दी से अपना हाथ धोकर अनुभव मंटप का एक सदस्य बना और वही बादको 'मोलिगे मारय्या' नाम से प्रसिद्ध बना। लकड़हारे की वृत्ति को अपनाने के कारण उसे 'मोलिगे' नाम पड़ा था। उसकी रानी का भी नाम महादेवीजी था।

सकलेश मादरस दक्षिण का एक दूसरा राजा था जो सिंहासन त्यागकर बसव का शिष्य बन गया। वैसे ही आदय्या गुजरात का एक व्यापारी था, मरुल शंकरदेव कालिंग (ओरिस्सा) का था, मैदुन रामय्या आंध्र का था, एकांत रामय्या कुंतल का था। एकांत रामय्या के शिव-भक्त बनने के सम्बन्ध में एक अबलूर शासन भी है। सोन्नलापुर से सिद्धाराम आये।

स्त्रियों का भी एक दल बना था। महादेवियक्का, सत्यक्का, मुक्तायक्का मैसूर के बेंल्लिगानी की थीं।

निचली जातियों से कई आये और अनुभव मंटप के सदस्य बने! वीरशैव दीक्षा के लेते ही सब आपस में समान बन जाते थे! रंच मात्र भी ऊँच-नीचता का भेदभाव नहीं किया जाता था। शंकर दासिमय्या एक दर्जी, माचय्या एक धोबी, चौडय्या एक मल्लाह, अप्पण्णा एक नाई, बोम्मय्या एक सुनार, कक्कय्या एक चमार, चेन्नय्या एक अछूत था।

इस तरह कुल कोई तीन सौ अनुभव मंटप के सदस्य थे। कोई तीस तक स्त्रियाँ थीं। वीरशैव धर्म के सिद्धांत पक्ष (Thecretical Side) और व्यवहार-पक्ष (Practical Side) लेकर खूब वाद-विवाद एवं तर्क-वितर्क किये जाते थे। अपने वक्तव्य प्रकट करने में हर कोई स्वतन्त्र था। अगर उन वाद-विवादों तथा विषय के स्वरूप देखने हों तो 'शून्य संपादने' नामक ग्रंथ में देख सकते हैं। यूनानी तत्ववेत्ता प्लेटो (Plato) की याद दिलाता है यह ग्रंथ ! बहुत ही महत्व का है। अनुभव की वेदी पर विचारों के मंथन का सुन्दर तथा एक मात्र निदर्शन है।

यज्ञ-यागादि में विश्वास रखकर पूजा करने देने वाले वेदों पर शैवागम एक सुधार लाये थे। उनके अनुसार यज्ञ-यागादि और प्राणि-बलि बन्द कर दी गयी; परन्तु भगवान की पूजा मंदिर में करने दी गई थी। अनुभव मंटप इन आगमों पर भी एक भारी सुधार लाया। चाहे घर में हो चाहे मंदिर में कहीं भी मूर्तिपूजा के लिए मंटप ने अवकाश नहीं दिया। क्योंकि मंटपने कहा भगवान एक ही है और उसका आकार निराकार है। उपनिषदों के पूर्णत्व (Absolute) को इस तरह का एक भौतिक रूप देना भारी परिवर्तन ही था। मंटपने वैयक्तिक (Personal) इष्टलिंग की पूजा विधि पर जोर दिया। आखिर इष्टलिंग क्या चीज थी ? वह सार्वभौमिक समता (Universal Leveller) स्थापित करने-वाला एक जबर्दस्त माध्यम था। क्योंकि किसी भी जातिवाला लिंग-दीक्षा से वीरशैव बन सकता था और सबके साथ समानता का अधिकार व आनंद प्राप्त कर सकता था।

षट्स्थल सिद्धांत, पंचाचार आदि वीरशैव सैद्धांतिक पक्षों में भी काफी सुधार मंटप लाया। ज्ञान, भक्ति और कर्म के पारस्परिक बड़-बड़प्पन को मंटपने हमेशा के लिए मिटा दिया। सब को आपस में एक दूसरे के समान माना गया। इसी सिद्धांत को व्यावहारिक पक्ष में गुरु, लिंग और जंगम कहा जाता है। इन्हीं तीनों का समन्वित भाव गीता में भी मिलता है; पर वहाँ इतने सुव्यवस्थित व्यावहारिक रूप में नहीं।

इन तीनों गुरु, लिंग और जंगम के प्रति त्रिविध दासोह के तन, मन और धन समर्पण करने का विधान मंटपने निकाला था।

वीरशैवों को धर्म के अनुशासन में रखने के लिए आत्मशुद्धि का एक जबर्दस्त उपाय किया गया था। वह "मुल्लिनाविगेय कायक" नाम से प्रसिद्ध था। मेखों से जड़े दो खड़ाऊँओं पर कड़ी धूप में घंटों भर लोगों को खड़ा रहना पड़ता था। यह सज़ा किसी पर जबर्दस्ती से लादी नहीं जाती थी। जो लोग आत्मशुद्धि चाहते थे वे खुद 'मुल्लिनाविगेय कायक' वालों को अपने यहाँ बुलाकर उन खडाऊँओं पर खड़े हो जाते थे। मुल्लिनाविगेय कायक वाले शिक्षित (Trained) होने के कारण उन खडाऊँओं पर खड़े होने का तरीका बताते थे।। अत: कुछ खास लोगों के लिए यह एक कायक (आजीविका) भी रहा ; आजकल के शिक्षित (Educated) समाज में एक ऐसे आत्मशुद्धि के विधी-विधान की कमी की ओर गांधीजी ने भी इशारा किया है।

बसव तथा दार्शनिकता

बसव एक पहुँचा हुआ दार्शनिक एवं रहस्यवादी भी था। सर्वांत-र्यामी भगवान के सम्बन्ध में उसके विचार यों थे—

"गाय को हर ले गये, ऐसा मत कहोजी, तुम्हारी दुहाई है। रो-धोकर चिल्लाओ मत, तुम्हारी दुहाई है। हर किसी से यह कहते फिरते मत रहो, तुम्हारी दुहाई है। क्योंकि कूडल संगमदेव एकोभाव होने के कारण वहाँ खानेवाला भी संग है और यहाँ खानेवाला भी संग है !

भगवान ने बनाया आदमी को और आदमी ने बनाया जाति-पांति को :—

"ज़मीन तो एक ही है अछूतों के आंगन व शिवालय के लिए जल तो एक ही है; शौचाचमन के लिए कुल तो एक ही है आत्मज्ञानी के लिये। हे कूडल संगमदेव ! तुम्हारी थाह भी एक ही है, थाह लेनेवालों के लिए।

भगवान भक्ति-लंपट होने के कारण अपने भक्त के हाथ में कठपुतली हो जाता है :—

"जग को घेर लिया है तुम्हारी माया ने और तुम्हें घेर लिया है मेरे मनने, यह तमाशा देखो ! तुम जग के लिये शक्तिशाली हो, किन्तु तुम से शक्तिशाली हूँ मैं, यह जान लो प्रभु। हे कूडल संगमदेव ! गज दर्पण में समा जाने की भांति तुम मुझ में समा गये हो प्रभु !"

द्वैताद्वैत के सुन्दर सामंजस्य को बसव ने यों बताया है :—

"क्या कहूँ मैं क्या कहूँ एक से दो हुओं का क्या कहूँ मैं क्या कहूँ दो से एक हुये का। इस तरह बसव एक महान दार्शनिक एवं रहस्यवादी था।

बसव तथा वीरशैव धर्म

बसव और वीरशैव धर्म अविनाभाव हैं। बसव के बिना वीरशैव धर्म नहीं है और वीरशैव धर्म के बिना बसव नहीं है। हालांकि वीरशैव धर्म का प्रवर्तक बसव नहीं है; परन्तु वह उसके पुनरुत्थान करनेवाला है। वह वीरशैव धर्म का एक मात्र विश्वसनीय प्रतिनिधि है। (जो प्रेमचन्द के उपन्यास साहित्य के बारे में कहा जाता है वही बात बसव के साहित्य के संबंध में भी कही जा सकती है। याने भले ही वीरशैव धर्म का नुकसान शायद ही होगा।)

बसव तथा कन्नड़ साहित्य

बसवने कन्नड़ साहित्य में एक क्रांति मचा दी। वह स्रष्टा भी था और द्रष्टा भी। केवल वचन साहित्य की सृष्टि नहीं बल्कि अपनी दूरदृष्टि का परिचय भी दिया है। क्योंकि उसने उस समय प्रचलित संस्कृत के प्रकांड विद्वान होते हुए भी उसे अपनाया नहीं। जैसे बुद्ध और महावीर ने संस्कृत को तजकर अपनी मातृभाषा पाली को अपने उपदेशों के लिए बरता था, ठीक वैसे ही बसवने भी अपनी तथा जनता की मातृभाषा को ही अपने उपदेशों का माध्यम बना लिया। कन्नड़ में

संस्कृत के कई छंद अपनाये गए थे। बसवने उन संस्कृत छंदों का भी एक तरह से बहिष्कार किया। कन्नड़ के निजी छंद पुराने पड़ चुके थे। ध्यान देने की बात यह है कि बसव न कवि था और न कवि बनना चाहता था। अपने संदेश को जनता तक पहुँचाने के लिए एक माध्यम की जरुरत थी। वह गद्य से ज्यादा उपयुक्त चीज़ और क्या हो सकती थी ? तो बसवने गद्य को ही अपनाया; परन्तु अपनी प्रतिभा और भावों की तीव्रता के कारण वह गद्य-पद्य सा बन गया और रह गया गद्य-काव्य (Poetic prose) और वही बाद को 'वचन' नाम से प्रसिद्ध हुआ। अनुभवामृत से कही हुई उक्ति को 'वचन' कहा गया। कन्नड़ साहित्य में इस तरह के वचन साहित्य का प्रमुख प्रवर्तक बसव ही है। बसव के समय में तथा उसके बाद वचनों की धूम मच गई। जैसे मान्य दिवाकरजी ने बताया है कि आज भी वचन लिखे जाते हैं। तीन वचनकार वचनकारों के सिरताज माने जाते हैं। वे हैं बसव, अक्कमहादेवी और प्रभुदेव। इन में भी काव्यत्व की दृष्टि से बसव के वचन सर्वोपरि ठहरते हैं। हाँ संगीतात्मकता तथा माधुर्य की दृष्टि से महादेवी के वचन बेजोड़ हैं। बसव के वचन कुल केवल एक हजार हैं। परन्तु एक एक वचन एक एक हीरा है। बिहारी के दोहों के समान देखने में तो छोटे छोटे हैं; परन्तु वे नावक के तीर के समान सीधे हृदय पर घाव कर जाते हैं। जैसे बिहारी की सतसई पर पचासों ग्रंथ लिखे गए हैं; सतसई साहित्य का सिलसिला भी जारी रहा; ठीक वैसे ही बसव के वचनों पर पचासों ग्रंथ लिखे गये हैं और लिखे जा रहे हैं। वचन साहित्य का सिलसिला तो आज तक चला आया है। बसव की एकाध और किताबें भी हैं। "कालज्ञानद वचन, "शिखारत्न वचन" और "मंत्र गोप्य" वे किताबें हैं।

इन्हीं वचनकारों के कारण वचन साहित्य को मुक्त कंठ से "कन्नड़-वेद" और "कन्नड़ उपनिषद" बताकर अपना गौरव सूचित किया है ! वचनकारों के प्रभाव से जो एक विचार क्रांति खड़ी हुई थी उसके कारण कन्नड़ साहित्य के उस युग को "विचार स्वातंत्र्य युग" भी कहा है।

भारतीय साहित्य में ही नहीं बल्कि विश्वसाहित्य में भी कन्नड के वचन साहित्य को एक विशेष स्थान दिया जा चुका है। इसका सारा श्रेय असल में बसव को ही मिलना चाहिए।

जिस तरह तुलसी के हाथ पड़कर अवधी और सूर के हाथ में पड़कर व्रजभाषा अमर हो गयीं, वैसे ही कन्नड भाषा भी बसव के हाथ में पड़कर अमर हो गयी है। कन्नड भाषा की शब्दशक्ति एवं साधक की सिद्धी को यदि एक साथ देखना हो तो वचन साहित्य में देख सकते हैं।

बसव तथा उसका प्रभाव

वीरशैव लोगों ने बसव को दैवत्व तक पहुँचाकर उसे "नंदी का अवतार" बनाकर ही अपना दम लिया है। यह तो जानी हुई बात है कि नंदी भगवान शंकर का वाहन-बैल है। चाहे जो हो हम तो कह सकते हैं कि अन्य महान आत्माओं के जैसे बसव अपने मानवत्व से दैवत्व तक याने अपूर्ण से पूर्ण तक अपने जीवित समय में ही पहुँचा! बसव बसवेश्वर बना। बसव के समकालीन लोगों की बात को रहने दीजिए उसके परवर्ती कविलोग तथा सभी वचनकारों ने बसव का नाम आदर से लिया है और उसकी स्तुति की है। बसव के संबंध में क्या कन्नड क्या तेलुगु दोनों भाषाओं में बड़े-बड़े ग्रंथ लिखे गये हैं। पाल्कुरिके सोमनाथ का तेलुगु में लिखा ग्रंथ "बसव पुराण" बहुत प्रसिद्ध है। इस ग्रंथ का अनुवाद कन्नड में, संस्कृत में और अंग्रेजी में भी हुआ है। हरिहर राघवांक, भीम कवि, चामरस, पंचाक्षरी, चेन्नाबसव आदि बड़े-बड़े कवियों ने बसव के प्रति अपना गौरव और प्रेम सूचित किया है।

वीरशैव लोगों के लिए तो बसव का पावन नाम तारक मंत्र सिद्ध हुआ है। बसव का नाम जैसे आदर, गौरव तथा श्रद्धा से लिया जाता है, वैसे शायद ही और किसी का नाम लिया जाता हो! बसव जयंती हर साल कर्नाटक के कोने कोने में बड़े वैभव के साथ मनायी जाती है। जिस तरह तुलसी का नाम उत्तर भारत में लोकप्रिय है, उसी तरह

बसव का नाम वीरशैवों के होठों पर उठते-बैठते, सुनते-बोलते, चलते-फिरते, सोते-जागते, नाचता है। बसव को 'अण्णा' याने बडा भाई भी कहते हैं। "अण्गन बलग" नाम से कई संस्थायें प्रचलित हैं। बसव को "भक्ति भंडारी", "वचन वङ्मयाचार्य", "वीरशैव मत सार्वभौम" और "जगज्योति" आदि उपाधियां दे कर अपना प्रेम व आदर प्रकट किया है। वीरशैव धर्म का एक मात्र ध्रुवतारा (Beaconlight) बसव ही है।

लेखक : ये. राजेश्वरय्या

अक्क महादेवी

ईसा की 12 वीं सदी कर्नाटक की साहित्य-कला तथा संस्कृति क प्रधान खेत था। इस खेत में कर्नाटक के जन समूहों ने एक आम्रकुंज की स्थापना की। यह आम्रकुंज कल्याण में बसवेश्वरजी के नेतृत्व में "शिवशरण" नाम से बना था। इस आम्रकुंज की अध्यात्म कोयल थी, अक्कमहादेवी। वह कोयल आम्रकुंज से कूक उठी—

"चिलि पिलियेंदोडुव गिढि गळिरा ! नीवु कंडिरा ?
स्वरेत्ति पाडुव कोगिलेगळिरा ! नीवु कंडिरा ?
एरगि बंदाडुव तुंबिगळिरा ! नीवु कंडिरा ?
सरोवरदोळाडुव हंसगळिरा ! नीवु कंडिरा ?
गिरिगह्वरदोळाडुव पुळिदियरा ? नीवु कंडिरा ?
चेन्नमल्लिकार्जुन नल्लिद्दानेंदु हेळिरे।"

---

* इस लेख के लिखने में मुझे श्री सिद्दय्या पुराणिक जी तथा लिंगानंद स्वामीजी के ग्रंथों से काफी मदद मिली है। मैं इन दोनों से बड़ा उपकृत हूँ। अतः इनका बड़ा आभारी हूँ। लेखक

('चिऊँ-चिऊँ' चहकनेवाले तोते ! तुमने देखा है क्या ?
'कुहू-कुहू' कूकनेवाली कोयल ! तुमने देखा है क्या ?
आकर टूटपड़नेवाले भृंग ! तुमने देखा है क्या ?
सरोवर में तैरनेवाले हँस ! तुमने देखा है क्या ?
पहाड़ों, गुफाओं में रहनेवाली झिलिनी! तुमने देखा है क्या ?
तुम सब बताओ कि चेन्नमल्लिकार्जुन कहाँ है ?

अध्यात्मवन की यह अमर कोयल अपने नवयौवन काल में ही घर-बार छोड़कर वन-उपवनों में, गिरि-गह्वरों में पहाड़ों जंगलों में, अपने हृदय के आराध्य देव को खोजती हुयी निकल पडी थी। उस निराकार निर्मम, निर्गुण, निरुपम परमात्मा के सामने यह संसार और उसका आकर्षण भी तुच्छ लगा था। अपने शरीर की छबी, संसार के भोग; ताड के सामने तिल जैसे लगे थे।

अक्कमहादेवी का जन्म मैसूर राज्य के शिमोगा जिले के 'उडुतडी' नामक गाँव में हुआ था। उसे आज 'उडगणि' कहते हैं पर कुछ विद्वान मैसूर राज्य के गुलबर्गा जिले में रहनेवाले "महगाँव को ही अक्कमहादेवी का जन्म स्थान "उदुतडि", मानते हैं; पर उसके वचनों में कल्याण मार्ग के बारे में जो विस्तृत वर्णन मिलते हैं, उससे पता लगता है कि उडुतडि कल्याण से काफी दूरी पर स्थित होगा। पर महगाँव तो कल्याण के बिलकुल नजदीक ही है। अतः शिवमोगा जिले के 'उडुगणि को ही अक्कमहादेवी का जन्म स्थान मानना ज्यादा ठीक होगा। अक्कमहादेवी के माता-पिता के नामों के बारे में भी विद्वानों में एकमत नहीं है। कन्नड के सुप्रसिद्ध वीरशैव कवि चामरस ने अपनी प्रभुलिंग-लीला में अक्कमहादेवी के माता-पिता के नामों को "निर्मल' और 'सुमति' बताया है। 'प्रभुलिंग-लीला व्यक्ति परक से ज्यादा मनोवैज्ञानिक है। अल्लम प्रभु को भी उसने दृश्यता से ज्यादा अदृश्यता तथा मुक्त दशा का ही रूप दिया है। चामरस ने अल्लमप्रभु के अद्वितीय तथा अनुपम चरित्र को प्रस्फुटित किया है, माया के द्वारा 'माया' मन की कामना है जो इस कामना को

जीतता है, वही मुक्त है। इन प्रकार अल्लम की प्रतिस्पर्धी माया जो है, वह मन की भावना है। यह कामना की भावना मन के ममकार तथा मोह से पैदा होती है। इसीलिए माया के माता-पिताओं के नामों को उसने 'ममकार' तथा 'मोहिनी' बताया है। उसी प्रकार अक्क-महादेवी को उसने माया रहित मन के प्रतिरूप में चित्रित किया है। इसलिए अक्कमहादेवी को भी उसने मनोवैज्ञानिक रूप दिया है। इस प्रकार अक्कमहादेवी माया-हीनता; 'निर्मलता' तथा 'सुमित' से पैदा होती है। इसलिए चामरस ने अक्कमहादेवी के माता-पिता के जिन नामों को बताया है, वे सच्चे नाम नहीं लगते पर मनोवैज्ञानिक पारिभाषिक शब्द जैसे लगते हैं। इसलिए हम उनको सच्चे नाम नहीं मानते। ,पर रायचूर जिले में "कोडेकल्ल" नामक स्थान में प्राप्त एक ग्रंथ में अक्कमहादेवी के माता-पिता के नाम "ओंकारसेट्टि" और 'लिंगम्मा' बताया गया है, जो ज्यादा वास्तविक लगता है। पर, कर्नाटक में चामरस कथित नाम ही ज्यादा जनप्रिय है। इसलिये अक्का के माता-पिता के नाम निर्मल और सुमति ही ज्यादा प्रचलित हैं। जो भी हो, इस में तो कुछ भी संदेह नहीं कि उसके माता-पिता सदाचार सम्पन्न दम्पति थे। ऐसे सुगुणियों के गर्भ से ही अक्कमहादेवी का अवतार हुआ। जिस प्रकार हिन्दी साहित्य की मीरा ने बचपन से ही श्रीकृष्ण को अपने पति के रूप में ही स्वीकार किया, उसी प्रकार अक्कमहादेवी ने बाल्यकाल से ही चेन्नमल्लिकार्जुन के रूप का ढाँचा ढल गया। उसका यह रतिभाव दिनों-दिन बढ़ने लगा। उसके गुरु ने भी अक्कमहादेवी के इस 'सति-पति' भाव को पानी सींचा होगा।

अक्कमहादेवी ने अपने अनुपम विवाह समारोह की वर्णनायें की हैं:—

गुरुवे तेत्तिगनाद, लिंगवे मदुवणिगनाद, आनेमदुवळिगळादे।
वसुधेय भक्तरेल्ल दिब्बणिगरादरु, कोट्टरु सादृशवप्प गंडलनोडि।
इदु कारण चेन्नमल्लिकार्जुननेनगे गंड नोडा!"

(गुरुबने कन्यादानी । बना लिंग दूल्हा ।
मैं बनी दुल्हिन, बने बराती भूमि के भक्त ।
दिया उन्होंने मुझे, अनुरूप पति को ।
इसलिये चेन्न मल्लिकार्जुन है मेरा पति ॥")

उसका यह विश्वास दिनों-दिन बढ़ता गया । उसकी चाह शुरू से ही 'इह' की न थी, पर 'पर' की ही थी । इसलिये उसने अपने हृदय की आकुलता को यों अभिव्यक्त किया :—

हिडनगलिद कुंजर तन्न विन्ध्यव नेनेवंते नेनेवेनय्य !
बंधनक्के बंद गिळि तन्न वंधुव नेनेवंते नेनेवेनय्य !!
......निम्मंदव नोरय्या चेन्नमल्लिकार्जुन !

(करती ध्यान तुम्हारा, झुंड से अलग होकर अपने विंध्य का
ध्यान करने वाले हाथी की तरह ।
करती ध्यान तुम्हारा, बंधित तोता अपने बन्धु का
है, जिस प्रकार करता ध्यान ॥
......चेन्नमल्लिकार्जुन ! दो दर्शन तुम्हारे, इस अभागिन को ।)

अक्कमहादेवी के इस वचन से पता चलता है कि उसे इस संसार में कुछ भी रुचि नहीं थी । वह तो इस संसार में ऐसी थी, जैसे झुंड से अलग हाथी अपने जंगल के ध्यान में उदास रहता है तथा पिंजडे में बंद तोता उदास रहता है । बाल्यकाल से ही उसके मनकी मुराद चेन्नमल्लि-कार्जुन की ही थी, उसका यह सुदृढ़ निश्चय ही था, इसीलिये तो उसने अपने हृदय देवता के सामने स्पष्ट रूप से व्यक्त किया :—

"हरने ! नीनेनगे गंडनागबेकेंदु अनंत काल तपिसिद्दे नोडा !
हसेय मेलण मात बेंसगेळलट्टिदरेम्मवरू शशिधरन हित्तिरक्के कळुहिदरु
भस्मवने हूसी, कंकणवने कट्टिदरु, चेन्नमल्लिकार्जुनय्या नीनेनगाग बेकेंदु"

(ओ परशिवा तुमको ही अपने पति के रूप में पाने के लिये मैंने अनंत काल से तपस्या की थी ! विवाह वेदिका की बात आयी तो मेरे संबंधियों ने शशिधर के पास भेजा । ओ चेन्नमल्लिकार्जुन ! तुम्हें मेरे पति बनाने के लिये भस्म-लेपन करके उन्होंने कंकण बांधा)' इस तरह वह इस सुदृढ़ विश्वास के साथ अपनी साधना में आगे बढी कि परशिव ही उसका पति है। कैसी धन्या है, वह स्त्री, जिसने मर्त्यलोक में शरीर धारण करते हुये भी अमर देव के साथ पत्नी का सा व्यवहार किया ! उसके विचार में सिर्फ वही नहीं, बल्कि यह सारा संसार ही स्त्री है, पुरुष वह एक ही, जो अद्वितीय है ; अनुपम है। उस निराकार निर्भय, एकोपुरुष का गान सुनिये :—

"कंगळोळगे तोळगि बेळगुव दिव्य स्वरुपन कंडु मैमरेदेनव्व !
मणिमुकुटद, फणिकंकणद, नगेमोगद, सुलिपल्ल, सोबगन कंडु मन सोतेनव्व !
इंतागि चेन्नमल्लिकार्जुननेन्न मदुवणिग; आनु मदुवणिगि केळाताये !'

(सुनरी ! आंखों में सुशोभित होनेवाले दिव्य स्वरूपी पर मैं लुट गयी। जिसके सिरपर मणिमुकुट है, जिसकी भुजाओं में नाग बन्धन हैं, जिसके मुखाकाश पर हमेशा मुस्कान छायी रहती है, और जिसके सफेद दान्त हमेशा चमक रहे हैं, ऐसे चेन्नमल्लिकार्जुन को देखकर मैं लुभा गयी। इसलिये वही मेरा दूल्हा है और मैं, उसकी दुल्हिन हूँ ।')

बाल्यकाल में उसके इस भाव पर तो किसी ने बाधा नहीं डाली, पर जब यौवन काल में भी उसकी यही दशा रही तो उसके कुछ हितैषियों को चिन्ता हुयी होगी। उन्होंने उसे लाख समझाने की कोशिश की। पर उसने किसी की एक न मानी। कुछ लोगों ने उससे कहा होगा कि तुम इस मर्त्य लोक के किसी पुरुष के साथ विवाहित होकर भी अपने इष्टदेव की आराधना कर सकती हो। ऐसे लोगों के लिये लीजिय उसका स्पष्ट उत्तर—

"इहकोब्ब गंड, परकोब्ब गंडने ? लौकिकोब्ब गंड, पारमार्थक्कोब्ब गंडने ? एन्नगंड चेन्नमल्लिकार्जुननल्लदे मिक्क गंडरेल्ल मुगिल मरेय बण्णद बोम्बेगळु नोडा !"

("इह लोक के लिये एक पति, और परलोक के लिये एक पति; एक लौकिक पति तो दूसरा पारमार्थिक पति ! यह कैसे हो सकता है ? चेन्न मल्लिकार्जुन के अलावा बाकी पुरुष मेरे लिये बादलों में छिपे हुए रंगीन गुडियों के समान हैं।")

चेन्नमल्लिकार्जुन के ध्यान में अक्कमहादेवी के हृदय की विरहाग्नि भभक उठी है। इस अद्वितीय विरहिणी के मुंह से निकली हुई आहें संसार के विप्रलम्भ-शृंगारसाहित्य के अनूठे रत्न हैं। आइये हम भी उसके साथ उस विरहाग्नि में तप कर पवित्र हो जायेंगे—

"कळवळद मनवु तलेकेळगादुदव्व ! सुळिदु बीसुव गाळि डरियायितव्व ! बेळदिंगळु बिसिलास्तु केळदि !"

(अरि सखी ! आर्तता से मन का सिर नीचा हुआ। मंद-मंद बहनेवाली ठंडी हवा आग बन गयी। चाँदनी धूप बनकर मुझे जला रही है।)

चेन्नमल्लिकार्जुन की याद की भट्टी में तपनेवाली इस विरहिणी के लिये मंद-मंद बहनेवाली ठंडी हवा, गरम हवा बन गयी है और सुहावनी चाँदनी कडी धूप बन गयी है ! विप्रलम्भ शृंगाराभिव्यक्ति के लिये यहाँ मंद-मंद वायु और चाँदनी अद्वितीय सामग्री बनी हैं।

देखिये, वह विरहिणी अपने प्रियतम की प्रतीक्षा कैसे कर रही है—

हगलु नाल्कु जाव निम्मकळवळदल्लिप्पे नोडा !

इरुळु नाल्कु जाव निम्म विकळावस्थेयल्लिप्पे नोडा !

इरुळु-हगलु निम्म कळवळदल्लि मरेदोरगिदेनय्य !

चेन्नमल्लिकार्जुनय्य ! निम्मोलुमे नट्टु हसिवु-तृपे निद्रेय मरेतेनु !"

("ओ मेरे प्रियतम ! चेन्नमल्लिकार्जुन ! दिन के चारों पहर मैं ने तुम्हारे ध्यान में ही विताये । रात के चारों पहर तुम्हारी याद की विकलता में बीत रहे हैं । दिन, रात मैं तुम्हारी याद में ही विता रही हूँ । तुम्हारे प्रेम ने मेरे कलेजे में चुभ कर भूख तृष्णा और नींद तक को भुला दिया ।)"

है क्या, ऐसी प्रियतमा, दुनिया के इतिहास में ! जो अपने अदृश्य प्रियतम के लिये यों दिन-रात गलती जा रही हो !

चेन्नमल्लिकार्जुन की याद उसे अपनी शरीर-सुधी तक को भुला देती है । उसे दिन-रात यही एक चिंता बनी रही कि मैं किस प्रकार अपने प्रियतम तक पहुँच जाऊँ !

अक्कमहादेवी ने सुदृढ रूप से अपने मन में ठान लिया था कि किसी भी लौकिक पुरुष के साथ विवाह न करूँगी । क्योंकि उसकी यह धारणा थी कि इस विश्व का एक ही पुरुष है और वह है चेन्नमल्लिकार्जुन ! बाकी सब प्रकृति है । इस लोक की सब वस्तुएँ-स्त्री-पुरुष, पशु-पक्षी, वृक्ष-लतायें उस प्रकृति के अंग हैं । इसलिये मनुष्य भी प्रकृति का एक अंग है । तब उस में स्त्रीत्व और पुरुषत्व कैसे आ सकता है ! उस परमात्मा के सामने इस लोक के पुरुष भी स्त्री ही हैं । क्योंकि वह परमात्मा उसमें ठीक उसी तरह रमता है जैसे एक पुरुष अपनी स्त्री में । इसीलिये अक्कमहादेवी ने इस सारे विश्व के लिये विश्वंभर चेन्नमल्लिकार्जुन को ही एक मात्र पुरुष माना । प्रकृति के अंग पुरुष नहीं हो सकते । हाँ, वे अंगांग उस एक ही पुरुष का आलिंगन कर सकते हैं । इसी 'सति-पति' भाव के द्वारा ही उसकी मधुर भक्ति की अभिव्यक्ति जारी रही । पर अक्कमहादेवी की इस अचलता पर दुख हुआ । उसकी सखियों को; उसके माता-पिता को । पर वे करते क्या ? उनको तो मालूम हो गया कि यह किसी भी तरह से मानने वाली न थी । इसलिये

वे चुप हो गये। पर अक्कमहादेवी के इस साधना मार्ग पर लोगों में कानाफूसी होती रही। टीका-टिप्पणी होने लगी। घड़े को बंद कर सकते हैं, पर लोगों के मुंह को कौन बन्द कर सकते हैं। दुर्जनों के कारण ही सज्जनों की सज्जनता समय पर कसौटी पर खरी उतरती आयी है। लोगों के व्यंग्यबाण अक्कमहादेवी के कानों में भी जा लगे होंगे। पर ऐसे नीच लोगों की नीचता से चंचलित होने वाला नहीं था, उसका दृढ़ निश्चय। ऐसे शशोपंज की स्थिति में वह धीर स्त्री का मनोस्थैर्य देखिये—

"बेट्टद मेलोंदु मनेयमडि मृगगळिगंजिदोडेतय्य !
समुद्रद तडियलोंदु मनेयमाडि नोरे-तेरेगळिगंजिदोडेंतय्य !
संतेयळोंदु मनेयमाडि शब्द के नाचिदोडेंतय्य !
मल्लिकार्जुनदेव ! केळय्या ! लोकदोळगे पुट्टिद बळिक
स्तुतिनिंदगेळु बंदरे मनदलि कोपव नाळदे समाधानियागिरबेकु।

("घर बनाकर पहाड़ पर, मृगों से डरते हैं, क्या ?
घर बनाकर समुद्र किनारे फेनीली लहरों से डरते हैं क्या ?
घर बनाकर बाजार बीच में; शब्दों से लजाते हैं क्या ?
सुनो मल्लिकार्जुन ! लोक में पैदा होने पर
नाराज न होके शांत रहना, स्तुति-निंदाके आने पर।")

महादेवी की इस कृति से उस समय के कुछ लोग अप्रसन्न हुए होंगे। इसीलिये उसने कहा—

"जगवंदेगे बेटव माहिदे ना, हगेयादेनू संसारक्केल्ल"
(प्यार किया मैंने, जगवंद्य के साथ,
बना वैरत्व लिया, सारे संसार के साथ")

इस लोकनिंदा को सहन करके भी उसने अपने साधना-मार्ग में अमित धैर्य के साथ मार्ग क्रमण किया। पर उसका मार्ग अभी विघ्न

बाधाओं से मुक्त कहाँ था ? उसके सुन्दर रूप को, श्याम मेघ जैसे केश पाशों को स्वच्छ स्फटिक, जैसे सुन्दर वपु को उस समय के राजा कौशिक ने देखा तो मंत्र-मुग्ध सा रह गया। उसके मुँह में पानी भर आया। उसने मन ही मन निश्चय कर लिया कि किसी-न-किसी तरह कामदेव की इस गुडिया को बस में कर लेना चाहिए। तुरन्त उसने अपने दूतों को भेजा, महादेवी के पिता के पास। विवाह की माँग लेकर राजा कौशिक के दूत महादेवी के पिता के पास आये तो उनका खून सूख गया। उन्हें अपनी बेटी का अचल निर्धार मालूम था। पर करते क्या ? राजा की माँग का तिरस्कार करना भी खतरे से खाली नहीं था। जब यह बात महादेवी के कानों में भी पडी तो वह भी भौंचक्का सी रह गयी। इस विवाह के लिये वह मंजूरी देगी तो रानी बनेगी, संसार का समस्त सुख प्राप्त होगा। पर, वह अपने ऊपर किसी भी प्रकार का बन्धन डालने को तैयार न थी। वह तो अपने को प्रियतम के चरणों में समर्पित कर चुकी थी। उसका विचार था—"रत्नद संकोलेयादरे तोडरल्लवे ? मुत्तिनं बलेयादरे वंधनवल्लवे-चिन्नद कतियिदं तले होय्दरे सायदिर्परे ? लोकद भजनेयल्लि सिलुकिदरे जनन-मरण बिडुवदे, चेन्नमल्लिकार्जुन ?"

> (ओ मेरे प्रियतम !
> रत्नों की बंडी बांधती नहीं क्या ?
> मोती का जाल फँसाता नहीं क्या ?
> सोने की तलवार सिर काटती नहीं क्या ?
> लौकिक झंझट में पड़ने पर जन्म-मरण छूटता है क्या ?)

उसके माता-पिता और सखियाँ भी कौशिक के साथ विवाह करने के लिये उसे सलाह दे रहे हैं। उनको उसके लौकिक जीवन को सुखमय बनाने की चिन्ता सता रही है। पर उसे इस लौकिक की चिन्ता क्यों, जो अलौकिक बन चुकी है। उसके अलौकिक पति की आभा देखिये—

"साविल्लद, केडिल्लद, सूहिल्लद, चेलुवंगानोलिदेनव्व !
एडेयल्लिद, कडेयिल्लद, तेरहिल्लद, कुरुहिल्लद, चेलुवंगानोलिदेनव्व !!

……भवविल्लद, निर्भव चेलुवंगानोलिदे………
इदु कारण चेन्नमल्लिकार्जुनने चेलुव गंडनेनगे !
ई सात्र, केडुव, गंडरनोय्दु ओलेयोळगिक्कु !"

(प्यार किया मैंने; अमर मंगल, निरूप सुन्दर के साथ ।
प्यार किया मैंने; स्थानातीत, सीमातीत भरपूर निराकारके साथ ।
प्यार किया मैंने; अनंत, अनादिनिर्भय के साथ ।
इसलिये चेन्नमल्लिकार्जुन का रिस्ता है, पति का मेरे साथ ।।
इन मरनेवाले, बिगडनेवाले पुरुषों को चूल्हे में झोंक ।")

(इस वचन की अन्तिम पंक्ति उसके मन की निश्चयात्मकता को प्रकट करने के लिये अत्यन्त स्वाभाविकता से अपनी पूरी ताकत लगा कर आयी है ।)

मानसिक संघर्ष के बाद महादेवी ने कौशिक के पास कहला भेजा कि वह अपनी शर्त मानने के लिये अगर तैयार हों तो वह मंजूरी देगी, वह भी कुछ दिनों की परीक्षा के बाद । कौशिक खुशी से तैयार हो गया । महादेवी राजमहल में गयी । उसके मन में यह चिन्ता कीडे की तरह सता रही थी कि मैं तो अब "लिंग-संगी बन चुकी हूँ, अब फिर से "अंग-संगी" कैसे बनूँ ?

कौशिक ने सोचा कि पहले किसी-न-किसी तरह यह विवाह हो जाय, बाद में किसी तरह महादेवी को मना लूँगा । पर महादेवी की यह इच्छा कहाँ थी कि यह विवाह हो; पर उसकी तो यही इच्छा थी कि किसी तरह यह अनहोनी बात रुक जाय । इसीलिये महादेवी ने कौशिक से यह शर्त लगायी कि अगर वह शिव भक्त बने तो वह उसके साथ शादी करेगी । कौशिक का मन महादेवी की रूप-माधुरी पर मुग्ध हो गया था । पर उसमें इतना धैर्य भी नहीं था कि अपने मन की इच्छा पूर्ती के लिये मतांतर को मंजूर करके समाज-निंदा का शिकार बने । तिस पर

महादेवी के प्रति उसका आकर्षण आत्मिक न होकर भौतिक था। उसकी इच्छा थी कि महादेवी का शरीर मेरा हो! इसलिये वह महादेवी की बात मानने तैयार नहीं हुआ। शायद वह अपनी आत्म-सुधार में न लग कर उल्टे महादेवी के शरीर के आकर्षण में पड़ा होगा। उसके शरीर की छवि ने कौशिक को पागल बना दिया था। काम ने अपने तेज तीरों से उसे घात कर दिया था। शायद इसी कारण से उसने अक्कमहादेवी पर बलात्कार किया होगा। अक्कमहादेवी को मालूम हो गया कि कौशिक अपने शरीर पर फ़िदा है। वह भी ऐसे शरीर पर जो हाड-मांस का टुकडा है। बडी घृणा उत्पन्न हुई, कौशिक के इस बर्ताव पर। अतः उसने कौशिक से कहा—

"अमेध्यद हडिके, मूत्रद कुडिके, पुलविन तडिके, कीविन हडिके,
सुडली देहव ! ओडलुविडिदु केडदिरु चेन्नमल्लिकार्जुन नीरमरुळे!"

(देह भी क्या ! मांस का पिंजडा, मूत्र का मटका,
हड्डियों का ढांचा, सडे खून का गड्ढा,
इस नश्वर देह पर भरोसा करके मत बिगड, रे पगले !
तू जान, चेन्नमल्लिकार्जुन को।)"

यह कहती हुई उसने अपने शरीर की साडी खींच डाली। इस देह को लेकर क्या करोगे ? कहती हुई नग्न होकर राजमहल से निकल पडी। कौशिक स्तम्भित रह गया। इस नश्वर संसार के प्रति अक्क-महादेवी की घृणा इस वचन में भीभत्स रस बनकर अभिव्यक्त हुई है।

उसके नग्न शरीर को केशों ने ढँक लिया। कपडों के बन्धन से भी वह निवृत्त हुई। आशा-पाश से तो वह पहले ही विमुख हो चुकी थी। इसलिये वह अपने सांसारिक परिस्थितियों से निवृत्त होकर निकल पडी। मुक्त होकर वह अपने माता-पिता के घर भी नहीं गयी। जब उन्हें यह बात मालूम हुई तो उन्होंने उसे घर बुला लाने की भी कोशिश की।

पर उसने एक-न-मानी। उसकी इस दिगम्बर वेश को देखकर उसके आसपास जन समूह इकट्ठा हो गया होगा। उस जनसमूह से किसी ने कपड़े पहनने की सलाह भी दी होगी। ऐसे लोगों को सुनिये अक्कमहादेवी के स्पष्ट उत्तर––

"मरये नूलु सरिये नाचुवदु नोडा गंडु-हेण्णेंब जाति !
प्राणदोडेयनी जगदल्लि तेरहिव्लदिप्पोडे नाचलेडेयुंटे ?
चेन्नमल्लिकार्जुनय्य जगवेल्ल कण्णागि नोडुतिरे
मुच्चिमरेयिसुवेनेंतु हेळा एले अय्या !"

("लजाती है, स्त्री पुरुषों की जाति, शरीर पर ढँके सूत के निकलने पर। लजाने की क्या जरूरत है, जब प्राणप्रिय के इस जग में सब जगह भरने पर ? कैसे सकती छिपा इसको, जब चेन्नमल्लिकार्जुन के जग को ही अपनी आँखें बना के देखने पर ?")

वह अपने माता-पिता को मनाकर जंगल की ओर चल पडी। जब उसकी यह निश्चयता कुछ लोगों को मालूम हुई तो उन्हें दुःख हुआ कि ऐसी सुकोमल देह जंगल के दुःखों को कैसे सहन कर सकेगी ? इस बात को कुछ लोगों ने उस से अवश्य कहा होगा। ऐसे लोगों को अक्कमहादेवी का धीर उत्तर सुनिये—

"काय कर्रगे केदिदरेनु; काय मिर्रगे मिचिदोडेनु ?
चेन्नमल्लिकार्जुननोलिद काय एनादोडेनु ?

("शरीर काल बन कर गल गया तो क्या ? शरीर चम-चमकने लगा तो क्या ? चेन्नमल्लिकार्जुन जिस शरीर पर प्रसन्न हो चुका है, उस शरीर के क्या होने पर भी क्या नुकसान है ?")

दिगम्बर ही उसका दिव्याँबर बन गया। केशों की राशि ही उसकी पोशाक बनी रही। रुद्राक्षीं उसके आभूषण थे। भस्म ही उसकी हल्दी थी। उस समय मैसूर राज्य के बीदर जिले का कल्याण अपनी उन्नत दशा में था।

कर्नाटक के भक्ति भण्डारी बसवेश्वर जी के घनप्रयत्न से कल्याण में अनुभव मंडप की स्थापना हो चुकी थी । कर्नाटक के महान् दार्शनिक अल्लम प्रभुजी उसके अध्यक्ष थे । कल्याण के घर-घर में धार्मिक वातावरण था । अनुभव मण्डप में आध्यात्मिक चर्चा प्रति दिन चलती थी । अनुभव मण्डप की इस कीर्ति के कारण कल्याण कैलास बन चुका था। बसवेश्वर और अनुभव मंडप की कीर्ति अक्कमहादेवी के कानों तक पहुँची होगी । इसलिए वह कल्याण की तरफ़ चल पडी। उस को यह ज्ञात हो चुका था कि अपना आध्यात्म विकास कल्याण में ही हीगा । पर कल्याण का रास्ता आसान नहीं था। वह घने जंगलों से भरा हुआ था । हिंस्र पशुओं की गर्जना से भरे हुए थे, वे जंगल। तिस पर वह नारी थी; नव युवती थी । रास्ते में हिस्रं पशुओं के साथ हिस्रं मानवों का भी खतरा था । पर उसके अचल निर्धार के सामने ये सब भौतिक बाधायें सूर्य के सामने कोहरे के समान पिघल गयीं। चेन्नमल्लिकार्जुन की प्राप्ति के लिए कल्याण को ही उसने चुना । इस अप्रतिम इच्छा शक्ति के सामने साँसारिक बाधायें पीली पड गयीं । अक्कमहादेवी की इच्छा अलौकिक थी, अद्वितीय थी, वह क्षुद्र नहीं थी । (इच्छा मानव की मूल प्रावृत्ति है । कोई मानव इच्छा के बिना रह ही नहीं सकता। लेकिन प्रश्न यह है कि वह इच्छा कैसी हो ? इच्छा सदिच्छा होनी चाहिए, उदात्त होनी चाहिए, महान् और भव्य होनी चाहिए । जब इच्छा करनी ही हो तो क्षुद्र और क्षणिक की इच्छा क्यों करें? " न अल्पे सुखमस्ति" अल्प में, क्षुद्र में, क्षणिक में कौन सा ऐसा सुख है ? इसलिए मानव मन की इच्छा भव्य, दिव्य, उदात्त और उन्नत होनी चाहिए । अक्कमहादेवी ने प्राकृतिक वस्तुओं द्वारा यह सिद्ध किया है कि महानता की इच्छा प्रकृतिजन्य है, न कि अल्पता की ।)

" गिरियोळल्लदे हुलु मोरडियोळाडुवदे नविलु?
कोळनल्लदे किरुवळ्ळक्केळसुवदे हँसे ?
कळित फलवल्लदे कसुगायि गेळसुवदे गिळि ?
चेन्नमल्लिकार्जुननल्लदे अन्य विषयक्केळसुवदे एन्न मन ?

(पहाडों को छोड कर टीले पर मोर नाचेगा ? सरवर को छोड कर हँस नाले में तैरेगा क्या ? पके फलों को छोड कर कच्चों को तोता खायेगा क्या ? चेन्नमल्लिकार्जुन को छोड कर अन्य विषयों में मेरा मन तल्लीन होयेगा क्या ?)

प्रकृति का भी गुण यही है कि वह उदात्त की ही इच्छा रखती है। जब प्रकृति ही उदात्त की चाह से ओतप्रोत है तो उस का ही एक टुकडा मानव ही ऐसा क्यों हो, जो कि नीचता, विनाशकारिता और स्वार्थपरता की घृणापूर्ण इच्छा करता है। पर, महादेवी तो उदात्त ही बनी रही, उन्नत ही बनी रही। इसी उदात्त इच्छा की पूर्ति के लिए कल्याण के मार्ग पर चल पडी। रास्ते में वह अपने इष्टदेव की चिंता करती हुई आगे बढ रही थी। पर, मानवसुलभ भूख, प्यास, नींद उसे भी सता रही थीं। क्योंकि मानव की मूल अवश्यकतायें तो ये तीन ही हैं। महा-महा ऋषि मुनियों तक इन से मुक्त कोई भी नहीं है। भूख मानव को कई रूपों से सताती है। किसी को इंद्रियों की भूख है तो और किसी को पेट की ज्वाला। किसी को भूमि की भूख है, और किसी को कीर्ति की भूख। किसी को संपत्ती की है तो और किसी को वडा वनने की। इस प्रकार प्यास के भी कई रूप हैं — किसी को रक्त की पिपासा है तो और किसी को राज्य की लिप्सा। नींद भी मानव को हरा देनेवाली ही है। नींद में पडा हुआ आदमी ज्ञान से हाथ धो लेता है। भूख, प्यास, नींद से मुक्ति पा लेता है तो काम की शक्ति इन तीनों से परे है। काम तो दुष्परिणामों का तांता बाँध देता है। गीताचार्य श्री कृष्ण ने भी काम के दुष्परिणमों पर अपनी बानी उठाई है

"ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्ते पूपजायते ।
संगात् संजायते कामः कामात् क्रोधोभिजायते ।।
क्रोधोद्भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृति विभ्रंशति ।
स्मृति विभ्रंशात् बुद्धिनाशो, बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ।।"

किसी विशिष्ट वस्तु के सतत ध्यान से उसकी संगति की चाह बनती है। उसके निकट सामीप्य से उसे पाने की लालसा बनी रहती है। इच्छा तृप्ति न हो तो स्वाभाविक रूप से क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से सम्मोह छा जाता है। इस सम्मोह के प्रभाव से स्मृति भ्रम में पड जाती है। स्मृति की भ्रंशना से बुद्धि का नाश हो जाता है। जब बुद्धि का नाश हो जाता है तो सर्वनाश निश्चित है। यह है, काम की अनर्थ परम्परा !

इन मानसिक दुर्गुणों की अनर्थ परम्परा से निवृत्त होकर अक्कमहादेवी निश्चित हो गयी। अपनी प्रारंभिक आवश्यकताओं के बारे में भी वह उदासीन रहीं। क्योंकि इच्छाओं पर विजय पाना ही सुखी जीवन का रास्ता है। हमारे आज कल के अव्यवस्थित, आर्थिक उथल-पुथलों का एकमात्र कारण है, हमारी अनियंत्रिन इच्छायें। संत कवि कबीर ने भी यही कहा है–

"चाह गयी च्यन्ता मिटी मनुवाँ बेपरवाह !"
जा को कछु न चाहिये सोई सांहसाह ॥"

भला, वह अपनी भूख-प्यास की चिता क्यों करती? सोने के लिये जगह की चिंता भी वह क्यों किया करती? उस को अपने अकेलापन की भी, उस घोर वन में कभी भी चिंता नहीं होती। क्योंकि—"हसिवादोडे भिक्षान्नगळुंटु, तृषेयादोडे केरेहळ्ळ-बाविगळुंटु, शयनक्के पाळुदेगुलगळुंटु चेन्नमल्लिकार्जनय्य; आत्मसंगातक्के नीनेनगुंटु।"

(भूख लगने पर भिक्षान्न हैं, मेरे लिये।
प्यास लगने पर नाले - तालाव–कुएँ हैं, मेरे लिये ॥
सोने के लिये टूटे मंदिर हैं, मेरे लिये।
संगति के लिये चेन्नमल्लिकार्जुन है, मेरे लिये ॥)
भला ऐसे समय में वह अपनी चिंता आप ही क्यों करने लगी?

जब कभी भूख लगती तो भीख माँगने जाती। अपनी इस असहायता पर उसे क्रोध आ गया होगा। कैसा दुर्बल है, मनुष्य, भूख के सामने !

कितना ही तत्वज्ञानी हो पर भूख के सामने वह क्षुद्र ही है । इसी मानव की क्षुद्रता पर क्रोधित होकर ही महादेवी ने कहा होगा --

" मने-मने तप्पदे कैयोड्डि बेडुवंते माडय्य!
बेडिदोडे इक्कदंते माडय्य !
इक्किदोडे नेलक्के बीळुवंते माडय्य !
नेलक्के बिद्दोडे नानेत्तिकांबुदक्के मुन्नवे
शुनि एत्ति कोंबंते माडय्य, चेन्नमल्लिकार्जुनय्य !! "

(" ओ चेन्नमल्लिकार्जुन! ऐसा करो कि मैं फिर भटककर हाथ पसारकर माँगने लगूँ । मैं माँगने लगूंगी तो ऐसा करो कि कोई भी मुझे भिक्षा न दें । अगर कोई शिक्षा देंगे तो तुम ऐसा करो कि मेरे उठा लेने के पहले ही उसे कुत्ता उठा ले जाय ।")

इस प्रकार वह अपने इष्ट देव से प्रतिकूल परिस्थितियों का निर्माण करने की ही प्रार्थना करती है । जब भीख माँगने का मौका ही न मिले तो वह जंगल के वृक्ष-लताओं से ही माँग कर अपनी भूख मिटा लेती थी । जो भी हो, माँगने से उसको छूट भी नहीं मिली । मानव ही ऐसा असहाय है कि वह दूसरों से अवलंबित हुए बिना अपनी प्रारंभिक अवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता । मानव कम से कम अपनी भूख मिटाने के लिये, पेड़-पौधों से ही क्यों न हो माँगे बिना नहीं रह सकता । अक्कमहादेवी ने मानव की इस "माँगने की दशा" पर तरस खा कर कहा--

"ओडल कळवळक्कागि अडविय होक्के-
गिड-गिड तप्पदे बेडिदेनेन्नंगक्केंदु !
अवु तीडिदवु तम्म लिंगक्केंदु !
आनुबेडि भवियादेनु; अवु नीडि भक्तरादुवु !
इन्नू बेडिदेनादोडे चेन्नमल्लिकार्जुनय्य ! निम्माणे ।"

("पेट की ज्वाला शांत करने जंगल में घुस गयी ।
पेड-पेड से अपने शरीर के लिए माँगती गयी ।।

अपने लिंग के लिए वे देते गये । माँग कर मैं 'भवी' बनी; देकर वे भक्त बने । चेन्नमल्लिकार्जुन, तुम्हारी कसम! जो मैं आगे किसी से माँगूंगी तो)

यह निर्धार था, अक्कमहादेवी का ! यह रास्ता था उसका, भूख से मुक्ति पाने का !

भूख, प्यास, नींद, काम-क्रोधादि दुर्गुणों से मुक्ति पाकर वह जंगल में अपने हृदय देवता की खोज में निकल पडी । अब उसे अपनी प्रारम्भिक आवश्यकताओं की चिंता भी नहीं सताती । उस को अब एक ही चिंता थी; वह चिंता थी, चेन्नमल्लिकार्जुन की । उस अमर, अप्रतिम, अनुपम, अद्वितीय की चिंता में ही वह चलती बनी। पहले जिन पेड-पौधों से वह फल माँगती, उन्हीं पेडों से अब यह अनुरोध करने लगी कि अगर तुमने मेरे चेन्नमल्लिकार्जुन को देखा है तो मुझे भी दिखलाने की कृपा करो। जंगल के खग-मृगों से उसकी यही प्रार्थना थी । प्रकृति की अनुपम सुन्दरता उसके लिए दृश्येन्द्रिय की तृप्ति की चीज नहीं, पर अपने हृदय देवता चेन्नमल्लिकार्जुन के दर्शन करने का माध्यम है । इसीलिए उसकी यही प्रार्थना है—

"अळिसंकुळवे, मामरवे, बेळुदिंगळे, कोगिलेये;
निम्मनोंद बेडुवेनु एन्न चेन्नमल्लिकार्जुनन कंडरे
करेदु तोरिरे ।।,,

("भृंग समूह; आम्रवृक्ष, चाँदनी और कोयल ! तुम सब से मेरा एक ही अनुरोध है कि अगर तुमने मेरे चेन्नमल्लिकार्जुन को देखा है तो मुझे बुलाकर दिखाओ ।")

इस प्रकार अक्कमहादेवी की उत्कट इच्छा पूर्ति के लिए प्रकृति के अंगांग पूरक बने हुए हैं । इस दीर्घ यात्रा में महादेवी का प्रकृति के साथ

अपरिमित साहचर्य रहा। उसने प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण किया। उसके सुन्दर और भयावह-दोनों रूपों से अभिज्ञ हो उठी। पर उसके हृदय-सुलभ सुन्दरता-प्रियता के कारण प्रकृति के सुन्दर रूप ने ही अभिव्यक्ति पायी है। प्रकृति के अंग उसके काव्य के विभाव, अनुभाव और संचारी बन गये हैं।

दीर्घकालीन प्रकृति की साहचर्यता के कारण उसे प्राकृतिक वस्तुओं की अच्छाइयाँ अच्छी तरह ज्ञात हो चुकीं। उसके साथ मानव की स्वार्थपरता से भी वह पहले से परिचित थी। उसके गुणग्राही हृदय ने प्रकृति के पेड पौधों की परोपकार प्रवृत्ति और मानव की स्वार्थपरता दोनों की तुलना की। इस तुलना-कार्य में अक्कमहादेवी ने अपने को ही प्रकृति के बाजू में रखा तथा उसके सामने अपनी हीनता, दीनता तथा क्षुद्रता का अनुभव किया। ' कैसे सुन्दर बन पडी है, यह तुलना इस पद्य में ! –

गिड बिळ्ळिगित कडेयादेनल्ल!
ओडल आसेगागि परर वंचिसि नानु ॥ गिड···
ओड्ने बळ्ळियु बेळेदु एरुवदु गिडवन्नु
बेडवेंबुदेनु गिड तानु बळ्ळिय?
कडु मोहदिंदलि परिमळ हूववन्नु
बेडुवदेनु कोडुयेंदु बळ्ळिय ?
(लता-वृक्षों से हुई गयी बीती मैं,
पेट भरने की आशा से धोखा देकर मैं ॥ लता······
लता बढकर है फैलती पेड पर,
मना करता क्या वह पेड पर ?
मोह से पेड माँगता क्या लता से,
सुगंधित पुष्पों को उस लता से ?)

इस वचन में उसने लता-वृक्षों की परोपकार प्रवृत्ति को दिल खोलकर गाया है, साथ ही स्वार्थी मनुष्य को कोसा भी है।

अक्कमहादेवि का व्यक्तित्व ही विचित्र था। उसमें नारीसुलभ कोमलता तथा सौंदर्यप्रियता के साथ, पुरुष सुलभ निर्भीकता, अपनाये गये मार्ग पर अटल रहने की अचल प्रवृत्ति का अनुपम संगम था। इसीलिए प्रकृति सौंदर्य की दिल खोलकर प्रशंसा की तो उसके भयावह रूप की सहज लापरवाही की। जंगल के हिंस्र जानवर उस के सामने पालतू बन गये। जानवर ही नहीं, पर जानवरों से क्रूर कामुक भी उसके सामने दुम दबाकर भाग खड़े हुए। अक्कमहादेवी के जीवन में 'किन्नरि बोम्मय्या' का संदर्शन अद्वितीय घटना थी। यह घटना अक्कमहादेवी की निर्भीकता तथा अपने सिद्धान्त पर के उसके अटल विश्वासों के दर्शन कराती है।

जंगल के रास्ते में किन्नरी बोम्मया* ने देखा कि अकेली अबला जा रही है। उसके शरीर पर न कपड़े हैं और ना ही उसका कोई संरक्षक है। यौवन उसके अंगांगों से (बूँद बन कर) टपक रहा है। शरीर का रंग तपे हुए तांबे की तरह चमक रहा है। मुख से पूनम के चाँद की आभा फूट रही है। इस लावारिश बेकस स्त्री को जंगल में अकेली पाकर बोम्मय्या का शैतान जागृत हुआ। अकेली औरत पर ज़बर्दस्ती करने की पुरुषों की यह प्रवृत्ति बहुत प्राचीन है। ऐसी सुन्दरी को देख कर बोम्मय्या के 'काम' के मुँह में पानी भर आया। उसने तुरंत महादेवी पर अत्याचार करने की प्रेरणा दी, बोम्मय्या को। महादेवी ने उस समय किस धैर्य के साथ बर्ताव किया, वह आजकल की नारियों के लिए मार्गदर्शक है। उस कामुक के साथ महादेवी ने प्रश्न किया——

*कुछ लोगों का कथन है कि श्री अल्लम प्रभु ही जान-बूझकर ही किन्नरि बोम्मय्या को महादेवी की परीक्षा के लिये भेजा था।

मुडिबिट्टु, मोगबाडि, तनु करगिदवळ, एन्ननेके तुडिसुविरि
एले अण्णगळिरा! एन्ननेके काडुविरि येले तंदेगळिरा ?
बलु हळिदु, भवगेट्टु, छलवळिदु, भक्तेयागि,
चेन्नमल्लिकार्जुनन कूडि कुलवळिदवळ ?

"अरे भाइयो ! तुम क्यों मुझे सताते हो ? मैं तो मुक्त केशि हूँ;, उदास होकर मैं अपने शरीर को पिघाल चुकी हूँ। मेरी शक्ति, मेरा छल, मेरा भय, सब नष्ट होकर मैं चन्नमल्लिकार्जुन में लीन हो चुकी हूँ। मैं अब केवल भक्तिन हूँ। मेरा न कुल है और न शरीर। इसलिए तुम मुझे सताते हो ?

शरीर की अनित्यता को दिखाते हुए उसने बोम्मय्या को समझाया कि तुम इस शरीर के भौतिक सौंदर्य से आकृष्ट हुए हो, पर यह शरीर तो मल-मूत्रों का घर है, रक्त माँसों की गुडिया है। इस नश्वर, अस्थि-चर्ममय देह पर मोहित होकर पागल मत बनो। पर इतने पर भी जब बोम्मय्या उस की बात मानने तयार नहीं हुए तो अक्कमहादेवी ने सोचा—,, जिस शरीर पर चेन्नमल्लिकार्जुन का अधिकार हो चुका है, वह किसी के बिगाडने से कैसे बिगडेगा ?

यह सोच कर उसने अपना शरीर बोम्मय्या के सुपुर्द कर दिया। कामी बोम्मय्या उसके शरीर के स्पर्श सुख के लिए लालायित था। अपने बस में आते ही महादेवी के शरीर के भिन्न-भिन्न अंगागों के स्पर्श से पुलकित होने के लिए हाथ फिराया। लेकिन आश्चर्य ! शरीर के जिस किसी भी भाग का वे स्पर्श करते तो वहाँ उन्हें "काम" के बदले 'कामारी' का अनुभव होने लगता। उसके कामांगों के स्पर्श करने पर भी उन्हें परशिव के अस्तित्व का ही अनुभव हुआ। इस स्पर्श क्रिया तथा उसकी प्रतिक्रिया को स्वतः बोम्मय्या ने ही अपने एक सुन्दर वचन में उद्गार रूप में यों व्यक्त किया है।

"मस्तकव मुट्टिनोडिदडे मनोहरनुळुमें काण बंदित्तु ।
मुख कमलव मुट्टिनोडिदडे मूर्तिय उळिवु कांण बंदित्तु ॥
कोरळ मुट्टि नोडिदडे गरलधर निरवु काण बंदित्तु ।
तोळुगळ मुट्टि नोडिदडे शिवनप्पु काण बंदित्तु ॥
उर स्थळव मुट्टि नोडिदडे करस्थलदंग काण बंदित्तु ।
बसुर मुट्टि नोडिदडे ब्रह्मांडवडगि काण बंदित्तु ।
गुह्यव मुट्टि नोडिदडे कामदहन काण बंदित्तु ।

महालिंग देव, त्रिपुरान्तक देव ! महादेवीयक्कन निलवनरियदे अळुपि केट्टेनु ॥"

("मस्तक स्पर्श से मनोहर का अस्तित्व दिखाई पडा था। मुख कमल के स्पर्श से मूर्ति का अस्तित्व दिखाई पडा था। गले के स्पर्श से गरलधर का अस्तित्व दिखाई पडा था। भुजावों के स्पर्श से शिव की गलाबाही का अस्तित्व दिखाई पडा था। उर स्थल के स्पर्श से कर स्थल के अंग का अस्तित्व दिखाई पडा था। गर्भ स्थल के स्पर्श से छिपे ब्रम्हांड का अस्तित्व दिखाई पडा था। गुह्यांग के स्पर्श से "काम दहन" का अस्तित्व दिखाई पडा था। ओ, महालिंग त्रिपुरांतक देव ! महादेवीयक्क की महिमा बिना जाने मैं बिगड गया।)

उनकी आँखें खुलीं। वे तुरन्त महादेवी के पैरों पर गिर पडे और क्षमा याचना करने लगे। अक्कमहादेवी के मातृ हृदय ने उन्हें क्षमा कर दिया और उनको अपने भाई के रूप में स्वीकार किया। बोम्मय्या का हृदय परिवर्तन हो चुका था। उनका शैतान भाग खडा हुआ। आगे चल कर वे श्रेष्ठ शिव भक्त बने। (यह है हृदय परिवर्तन की कहानी! यह है, स्त्री-हृदय के धैर्य की कहानी !) यही महादेवी की पहली आध्यात्मिक विजय थी। जो कामुक बनकर महादेवी को सताने आया था, वही उसका भाई बन गया। बोम्मय्या भी महादेवी के साथ कल्याण की तरफ चल पडा। जो महादेवी के मानहरण के लिए तयार था, वही उसकी मान रक्षा का भार अपने ऊपर लेकर उसे कल्याण तक पहुँचाने के लिये गया।

कल्याण में पहुँच कर अक्कमहादेवी अनुभव मंडप में गयी तो वहाँ के पवित्र वातावरण से प्रसन्न हो गयीं। महान् दार्शनिक अल्लम प्रभु ने अध्यक्षासन ग्रहण किया था। आसपास श्री बसवेश्वर, चेन्नबसवेश्वर, सिद्धराम, मडिवाळ माचिदेव जैसे महान् दार्शनिक और ज्ञानी बैठे हुये थे। ऐसे दिग्गज ज्ञानियों के दर्शन से अक्कमहादेवी का हृदय पुनीत हो चला था। पर उसे अनुभव मंडप में प्रवेश पाने के लिए अल्लमप्रभु की परीक्षा में उत्तीर्ण होना था।

अक्कमहादेवी और अल्लम का यह संदर्शन धार्मिक इतिहास में अपूर्व-घटना थी। यह संदर्शन सिर्फ दो व्यक्तियों का चातुर्य पूर्ण वार्तालाप ही नहीं था, अपितु दो शक्तियों का समागम था। अल्लम की यह परीक्षा अग्नि परीक्षा थी। अक्कमहादेवी उसमें उत्तीर्ण हो गयी। प्रतिभा का मुक़ाबला प्रतिभा ही कर सकती है। अल्लम का प्रथम प्रश्न ही ऐसा था, जिसके सामने सामान्य मनुष्य स्तंभित रहे बिना नहीं रह सकता था। उन दोनों के ओजस्वी वार्तालाप को पूर्ण रूप से उद्धरित किये बिना रहा नहीं जाता :—

अनुभव मंडप में अक्कमहादेवी को देखकर आश्चर्य प्रकट करते हुये अल्लम प्रभुने पूछा—

"उद मदद यौवनवनोळकोंड सति नीनु, इत्तलेके बंदेयव्व !
निन्न पतिय कुरुह हेळिदरे बन्दु कुळ्ळिरु, अल्लादिरे
तोलगु तायॆ ?
नम्मगुहेश्वर शरणरल्लि संगसुख सन्निहितव बयसुवरे ?
निन्न पति यारेंबुद हेळा, एले अव्वा !

(नव यौवन से भरी हुई युवति ! तुम यहाँ क्यों आयी ?
तुम अपने पति के लक्षण बताओगी तो यहाँ आकर बैठो;
नहीं तो यहाँ से हट जाओ। क्या हमारे गुहेश्वर के शरणों

से शरीर सुख की इच्छा रखती हैं ? यह तो बताओ
कि तुम्हारे पति कौन हैं ?)

अक्कमहादेवी को देखते ही अल्लमप्रभु ताड लेते हैं कि यह युवति अविवाहित है । उनको हमेशा अनुभव मंडप की चरित्र-शुद्धि की चिता लगी रहती थी । इसीलिये उन्होंने सोचा होगा कि एक अविवाहिता का अनुभव मंडप में रहना खतरे से खाली नहीं । वे यह स्पष्ट रूप से जान लेना चाहते थे कि अक्कमहादेवी काम-क्रोधादि से मुक्त है या नहीं । इसीलिये उन्होंने ऐसा प्रश्न पूछा होगा । अक्कमहादेवी स्पष्ट रूप से अपने पति के लक्षण बता देती है—

"पच्चेय नेलगट्टु, कनकद तोरण, वज्रद कंभ, पवळद
चप्परविक्कि मदुवेय माडिदरु, एम्मवरेन्न मदुवेय माडिदरु, कंकण
कैदार स्थिरसेसेयनिक्कि चेन्नमल्लिकार्जुननेंब गंडगेन्न मदुवेय माडिदरु"

(रत्न जडित भूमि, सुवर्ण का वारण, वज्र-खंभा, सीपों के मंडप में मेरे सम्बन्धियों ने मेरे विवाह कराया । कंकण बांधकर स्थिर अक्षता डालकर चेन्नमल्लिकार्जुन के साथ विवाह कराया, उन्होंने")

आगे अल्लम ने पूछा—

'तनु सीरेयनळिदु निर्वाणवादल्लि मनद भ्रान्तु निश्चयवागदु; केशवेंब सीरे अंगक्के मरेयायित्तु; भावशुद्धवादल्लि सीरेये नळिदु कूदल मरेसलेतक्के ?

("सिर्फ शरीर की साडी निकाल कर नंगी हो जाने से मन की भ्रान्ति का रूप निश्चित रूप से व्यक्त नहीं होगा। क्योंकि केश रूपी साडीने तुम्हारे शरीर को छिपाया है। अगर तुम्हारी भावना शुद्ध हो तो साडी छोडकर केशों से शरीर को क्यों छिपाया तुमने ?)

अक्कमहादेवी का उत्तर सुनिये—

"फल ओळगे पक्ववागियल्लदे होरगण सिप्पे ओप्पगेडदु।
कामद मुद्रेय कंडु निमगे नोवादीतेंदु आ मावदिद मुच्चिदे :

इदक्के नोवेके? काडदि रण्ण, चेन्नमल्लिकार्जुन ओळगादवळ ॥"

("फल अन्दर से जब तक नहीं पकता, तब तक उसका छिलका भी नहीं बिगडता। मैंने इसलिये अपना शरीर छिपाया कि "काम" की मुद्रा देखकर आप लोगों को दुख होगा। इसके लिये संशय क्यों ? मैं तो चेन्नमल्लिकार्जुन में लीन हुई हूँ, मुझे मत सताइये।")

(जब तक फल अन्दर से पक्व नहीं होता तब तक उसका छिलका उससे लगा रहता है। जब फल अन्दर से पक्व हो जाता है तो वह छिलका अपने आप निकल जाता है। उसी प्रकार मानव का मन जब तक पक्व नहीं होता तब तक उसका देहाभिमान रहता है। पर जब मन पक्व हो जाता है तो उसका देहाभिमान नष्ट होता है। वह मान अपमान की कल्पना करता है। कपडे पहनता है। पर जब मन पक्व हो जाता है तो उसका देहाभिमान नष्ट होता है, उसके मन में अपमान और लज्जा की बात आती ही नहीं। उस समय शरीर ढँका कपड़ा अपने आप उतर जाता है। इसीलिये) अक्कमहादेवी का कहना है कि मेरा मन पक्व हो गया है, इसीलिये मैं देहाभिमान रहित हूँ। अतः मेरी देह से साडी निकल चुकी है। अब प्रश्न यह है कि इतना होने पर केशों से शरीर को छिपाया क्यों ? इसका कारण मेरे मन की अपक्वता नहीं, पर उसका कारण यही है कि इस भरी सभा के सामान्य सदस्यों को काम की मुद्रा देखकर दुख होगा।

अक्कमहादेवी के इस भावगर्भित उत्तर से भी प्रभु प्रसन्न नहीं हुए। उन्होंने उसी उत्तर के आधार पर ही दूसरा प्रश्न पूछा—

" नी देवरोळगो ? देवरु निन्नोळगो ? एँब ठावनरिए।
सिप्पे ओप्पगेट्टाग हण्णिन कोळकागित्तु।
अदु गुहेश्वरनोप्पद मातु।"

(यह तो मालूम नही हुआ कि तुम भगवान में हो, या भगवान तुम में है। जब छिलका बिगड जाता है तो फल का रस भी सड जाता है। यह बात हमारे गुहेश्वर के लिए मंजूर नहीं है।")

तुम्हारे कहने के अनुसार फल अंदर पके विना बाहर का छिलका नहीं निकल सकता। पर जब छिलका निकल जाता है तो अंदर का रस सडने लगता है। जब रस सड जाता है तो उसे चींटियाँ लग जाती हैं। उसी प्रकार साडी रूपी छिलका निकल गयी तो तुम्हारे शरीर रूपी फल को भी कामुक रूपी चींटियाँ लगी होंगी। अक्कमहादेवी से प्रभु ने भरी सभा में यह प्रश्न किया।

महादेवी:—"गुणदेषव संपादनेय माडुवन्नक्क कामद ओडलु,
क्रोधद गोत्तु, लोभद इक्के, मोहद मंदिर, मदद आवरण, मत्सरद होदिके। आ भाववरतल्लेदे चेन्नमल्लिकार्जुनन् केळुवदक्किविल्ल ॥

"जब तक गुण दोषों की कमना है, तब तक काम का शरीर क्रोध का स्थान, लोभ का आश्रय, मोह का मंदिर, मदका घूँघट मत्सर का परदा, आदि है, यह शरीर। पर जब मानव गुण दोष से अतीत हो जाता है तो उसे इन गुण-दोषों का स्पर्श कैसे लगेगा? इसलिये जब मानव के मन में गुण-दोषों से अतीत की भावना आ जाती है तभी चेन्नमल्लिकार्जुन का अस्तित्व मालूम होता है। जब तक यह भावना नहीं आती तब तक भगवान के अस्तित्व का अनुभव आ ही नहीं सकता। इसलिये जिस शरीर में भगवान के अस्तित्व का अनुभव आ जाता है, वह शरीर कभी भी अपवित्र हो ही नहीं सकता। वह फल-जिसके छिलके निकाले जाने पर भी भगवान को भोग लग चुका है—क्या कभी भी अपवित्र होगा? उसी प्रकार जो शरीर भगवान का आवास स्थान बन चुका है, वह नग्न होने पर भी दूसरों की आँखें उस पर गड जाने पर भी अपवित्र कैसे हो सकता है?" अक्कमहादेवी के इस उत्तर से प्रभु को निरुत्तर हो जाना

चाहिये था। पर वे अभी उसकी परीक्षा करना चाहते थे। इसलिय उन्होंने पूछा—

"कामदिद कंड, क्रोधदिद आस्ति, लोभदिद सकल विषयंगळु, मोहदिद नोडिदनेंबुदेल्लवु कामन बलेयोळगु। कामन गेद्देंन ठावावुदु हेळा गुहेश्वरलिंगक्के ?"

मानव के प्रत्येक कार्य के पीछे "काम" का ही हाथ रहता है। मानव जो कुछ देखता है, वह काम के कारण, मानव का अस्तित्व ही एक प्रकार से क्रोध का ही स्वरूप है। सभी विषयों के पीछे—चाहे वे अच्छे हों या बुरे—लोभ का ही प्रभाव है। ऐसे समय में तुम यह बता रही हो कि मैंने "काम" (Libido) को जीता है। यह तो बताओ तुमने इस सर्वव्यापी काम को कहाँ और कैसे जीता है ?

(अल्लम प्रभु जी के उपरोक्त वचन में फ्राइड महोदय का 'लिबिडो' सिद्धांत व्यक्त हुआ है। मानव के प्रत्येक कार्य में "लिबिडो" काम करते रहता है। वेश्यागमन जैसे नीच से नीच काम से लेकर भगवभ्दक्ति जैसे उन्नत से उन्नत आचरण तक इस लिबिडो का विस्तार है। शायद इसी सिद्धान्त की सच्चाई के कारण ही अक्कमहादेवी ने अपनी भक्ति-पद्धति सति-पति भाव के रूप में व्यक्त किया होगा। जब इस प्रकार मनुष्य के प्रत्येक कार्य के पीछे लिबिडो का हाथ है तो जीता कैसे जा सकता है ?)

अक्कमहादेवी :—"केंडर शवदंते, सूत्रतप्पिद बोंबेयंते, जलवरत तटाकदते, बेंदनुलियंते, मत्ते हिंदणग उंटे अण्ण ! चेन्नमल्लिकार्जुननंगव आश्रयवादवळिगे ?

("चिता की लाश की तरह, टूटे सूत्रों की गुडिया की तरह निर्जल तालाब की तरह, जली हुई रस्सी की तरह; पूर्व शरीर बच जाता है क्या, चेन्नमल्लिकार्जून में लीन होने वाली का ?)

(चिता पर लाश चढा कर आग लगाने से वह जल जाती है, पर जलने के बाद भी राख में उसके अवशेष ज्यों के त्यों बने रहते हैं । पर क्या उन जले अवशेषों को हम लाश कह सकते हैं ? नहीं वह तो बिलकुल राख ही है । उसी प्रकार कठपुतलियाँ जब तक सूत्रबद्ध रहती हैं तब तक नाचती हैं । सूत्रों के टूट जाने के बाद निष्क्रिय खडी हो जाती हैं । जब तक तालाब में पानी रहता है, तब तक उसको तालाब कहना ठीक है । पर ऐसे तालाब से क्या फ़ायदा, जिसका पानी सूख गया हो ? रस्सी को जला डालते हैं तो उस रस्सी के रूप में ही उसकी राख बच जाती है । पर उस रस्सी के आकार में पडी हुई राख से क्या हम रस्सी का काम ले सकते हैं ? उसी प्रकार यह मेरा शरीर भी है । यह देखने के लिए है । पर इसके पूर्व गुण चेन्नमल्लिकार्जुन की संगति से जल गये हैं । अब यह शरीर जो है यह अपनी पूर्वावस्था का ध्वंसावशेष मात्र है) इस प्रकार अपने लिंगांग सामरस्य को उसने बताया तो तुरंत प्रभु का प्रश्न तीर की तरह आया ।

"रूपिमे केडुंटु निरूपिगे केडिल्ल ।
रूपु-निरूपवनोडगुडुव परि एंतु हेळा ?
असंबंध संबंधवागिदे ! देह-इंद्रियवेंद
जाति-सूतकविरलु गुहेश्वर लिंगव मुट्टबारदु केळव्वा !"

(साकार बिगड सकता है, निराकार नहीं बिगड सकता । यह बताओ कि साकार निराकार का मिलन कैसे हो सकता है ? यह सम्बन्ध असंबंध है । जब तक देह और इंद्रियों की जाति की मैलगी है तब तक गुहेश्वर का स्पर्श कोई भी नहीं कर सकते ।")

निराकार-अखंड-निरवय-निरूपात्मक " पर " वस्तु का नाश हो नहीं सकता । जो खंडित है, जिसके रूप और आकार हैं, उसका नाश होना स्वाभाविक है । इसलिए आकार और निराकार वस्तुएँ कभी भी एक दूसरे से नहीं मिल सकतीं । तुम्हारी देह है और इंद्रियाँ हैं, इसलिए तुम

साकार हो। पर, परवस्तु तो निराकार है। इसलिए साकार, मूर्त तुम, निराकार, अमूर्त से कैसे मिल सकती हो ? जब तक इंद्रियां और देह, रहती हैं तब तक तुम गुहेश्वर लिंग में लीन कैसे हो सकती हो ?

अक्कमहादेवी:—"हाविन हल्ल कळेदु हावनाडिस बल्लरे हाविन संगवे
लेसु कंडय्य ! कायद संगव विवरिस बल्लरे कायद संगवे
लेसु कंडय्य ! तायिरक्कसियादंते काय विकारवु ॥"

अक्कमहादेवी ने प्रभु के प्रश्न का बडा मार्मिक उत्तर दिया। साकार निराकार में लीन कैसे हो सकता है ? इस प्रश्न के उत्तर रूप में उपरोक्त वचन को बताया उसने।

दाँत निकाल कर साँप खेला सकते हैं तो साँप की संगति क्यों बुरी है ? साँप से मानव इसलिए डरता है कि उस के मुँह में विष के दांत हैं। जब विष के दाँत निकल चुके तो उस से डरने की क्या अवश्यकता है ? उसी प्रकार साधक शरीर से इसलिये डरता है कि इसमें "विषय-विकार" है। इसी कारण से ही साधकों को शरीर घृणित लगता है। पर यह भी ध्यान देने की बात है कि "शरीर माद्यम् खलु धर्म साधनम्"। तो उपाय क्या है ? उपाय यह है कि हम इस शरीर के विषदन्त स्वरूपी "विषय-विकारों" को निकाल दें। जब शरीर विषय रहित हो जाता है तो अंग-लिंग की सामरस्यता को बताने के लिए शरीर माध्यम क्यों बुरा है ? शरीर ही सब धर्मों की साधना के लिए सहायक है। इसलिए सद्धर्म के साधना मार्ग में रत साधकों को एक प्रकार से शरीर माँ के जैसे है। क्योंकि वह साधकों को सद्धर्म-मार्ग पर चलने के लिए माँ की तरह पुष्टि प्रदान करता है। पर वही शरीर विषय लोलुपता से विकृत हो जाय तो साधक का बाधक बन जाता है। जिस प्रकार माँ राक्षसि बन जायगी तो अपने बच्चों को ही खा डालेगी उसी प्रकार विषय विकारों से विकृत शरीर साधक का विनाश कर डालता है। इसका अर्थ यह हुआ कि निराकार निरुपम, ब्रह्म में लीन होने में बाधक साकार शरीर नहीं; किन्तु उसके

विषय विकार हैं। जब वह शरीर विकार रहित हो जाता है, भावशुद्धि मिल जाती है तो निराकार के साथ क्यों लीन नहीं हो सकेगी?"

अल्लम प्रभु भी तर्क में कुछ कम नहीं थे। जब अक्कमहादेवी ने विपय विकारों का निर्मूलन करके शुद्ध होने की बात बतायी तो उन्होंने पूछा —

,,तनुगुणव विवरिसिहेनेंदरे मनशूद्धवागवेकु ॥
मनद गुणव विवरिसिहेनेंदरे इंद्रिय शुद्धवागबेकु ॥
तनु मन इंद्रियगळु शुद्धसुयिदानिवागि लिंग मुरवक्के
वेद्यवादल्लदे गुहेश्वरन बेसगोळ वारदु केळा तायें !,,

(तन की शुद्धता के लिए मनकी शुद्धता जरूरी है •
मन की शुद्धता के लिए इंद्रियों की शुद्धता जरूरी है।
तन-मन-इंद्रियों की शुद्धता लिंग को विदित होना जरूरी है।)
जब तक यह नहीं होगा, तब तक गृहेश्वर का नाम न लेना जरूरी है॥'

अब तक तो तुमने विषय विकार रहित शुद्धता की बात बतलायीं। लेकिन यह आसान बात तो नहीं है। क्योंकि मन की शुद्धता के बिना तन की शुद्धता हो ही नहीं सकती। पर मन की शुद्धता के लिए इंद्रियों की शुद्धता जरूरी है। जब तक तन-मन-इद्रियों की शुद्धता प्राप्त नहीं होती तब तक परमात्मा का साक्षात्कार भी नहीं हो सकता। पहले तुम यह तो बताओ कि तुमने अपने तन-मन-इंद्रियों की शुद्धता कैसे प्राप्त कर ली है ?''

अक्कमहादेवी ने विनीत भाव से अपने शुद्ध होने का विवरण यों दिया—

तनुशुद्धवायित्तु शिव भक्तरोक्कुदव कोंडु।
एन्नु मन शूद्धवायित्तु असंख्यानर नेनेदु॥

एन्न कंगळु शुद्धवायित्तु सकल पुरातनर नोडि ।
एन्न श्रोत्र शुद्धवायित्तु अमर कीर्तीय केळि ।।
एन्न भावनेयेनगिदु जीवनवु केळा लिंग तंदे !
नेट्टने निम्मुव पूजिसि भावगेट्टेनु काणा चेन्नमल्लिकार्जुना ।

(,,शिव भक्तों के प्रसाद-भोजन से मेरा तन शुद्ध हुआ,
असंख्याक शिव भक्तों के सुमिरन से मेरा मन शुद्ध हुआ ।।
मेरी आँखें प्राचीन भक्तों को देख कर हुईं पवित्र ।
मेरे कान उनकी कीर्ति सुनकर हुए पवित्र ।
मेरी यह भावना ही मेरा जीवन है !
ओ चेन्नमल्लिकार्जुन ! तुम्हारी पूजा से मेरा भव नाश हुआ है ।।)

लेकिन इतने से ही अल्लम माननेवाले कहाँ थे ? वे और भी कसना चाहते थे । उनको तो मालूम हो गया कि "यह अनर्घ्य रत्न" है । वे उसे सान पर चढाकर उसकी आभा से सभासदों की आँखें चकाचौंध करना चाहते थे । इसलिए उन्होंने फिर पूछा—

"कूडलिल्लद धनव कूडुव परि एंतव्व ?
हेळिदरे अदक्कदे कोरते ! गुहेश्वर लिंगव बेरुमाडि
बेरेसुव परि एन्तु हेळा ?"

(जिस घन वस्तु से लीन होना असंभव है, उस में लीन होने का तरीका कौन सा है ? इस प्रश्न का उत्तर न बताओगी तो तुम्हारा उत्तर परिपूर्ण कैसे होगा ? इसलिए तुम यह बताओ कि गुहेश्वर लिंग में पूर्ण रूप से लीन होने का मार्ग कौन सा है ?")

'किसी वस्तु में लीन होने का अर्थ है एक वस्तु दूसरे के साथ मिलना । पर परमात्मा तो अभिन्न है । इसलिए "जीवात्मा और परमात्मा का सम्मिलन" का अभिप्राय यही हुआ कि वे पहले अलग थे । इस सिद्धांत को

मंजूर किया जाय तो वहाँ 'द्वैत' की भावना आ गयी। पर वास्तव में यह "द्वैत" की भावना ही ठीक नहीं। क्योंकि इस विशाल विश्व में ऐसा कोई स्थान, ऐसा कोई व्यक्ति, वस्तु या जीव-जन्तु है ही नहीं, जहाँ पर भगवान का अस्तित्व ही न हो। तो सर्वव्यापी अखंड' परिपूर्ण, महान् ब्रह्म के साथ जीवात्मा का सम्मिलन कराने की बात अर्थहीन है। अगर परमात्मा से जीवात्मा अलग हो भी गयी तो वह रहेगी कहाँ ? उसी परमात्मा में ही न ? तो अलग होकर मिल जाने का तरीका कहाँ है इस अद्वैत में ?" यह प्रश्न था अल्लम का। पर महादेवी ने कुछ रूपकों द्वारा अल्लम के तर्क को काट्य साबित किया।

> ,,गट्टि तुप्प, तिळिदुप्पक्के हंगुटे अय्या ?
> दीपक्के दीप्तीगे भेद उंटे अय्या ?
> एडन्नंगवनु श्री गुरु मंत्र माडि तोरिदनागि
> सावयव-निरवयवक्के भिन्नविल्लवय्या !
> चेन्नमल्लिकार्जुन देवर बेरसि मति गेट्टवळ
> एतक्के नुडिसुविरय्या ?"
> (गाढा घी और पतला घी, दोनों में अंतर है क्या ?
> दीप और दीप्ति दोनों में अंतर है क्या ?
> मेरे शरीर को श्री गुरु ने मंत्रमय बनाया,
> अतः सावयव और निरवयव में अंतर नहीं है।
> मैं तो चेन्नमल्लिकार्जुन में लीन हो कर मतिहीन बनी हूँ,
> मेरे साथ ज्यादा बातें क्यों करते हैं आप ?")

गाढा घी और पतला घी दोनों देखने में अलग हैं। पर दोनों का अस्तित्व तो एक ही है। पर देखने में गाढा घी साकार है तो पतला घी निराकार। इतना होने पर भी उन दोनों का गुण एक ही है । घी, घी ही है, वह चाहे गाढा हो या पतला। पतले घी को ठंडक पहुँचाने पर गाढा बनता है, गर्मी पहुँचाने पर पतला। पतला घी गाढा बन जाने पर भी

उसका अस्तित्व जिस प्रकार उसी में बना रहता है, उसी प्रकार परमात्मा की लीला में उसका निराकार रूप साकार रूप से अलग न होकर उसी के अंतर्गत रहता है। साकार दीप बनकर, निराकार दीप्ति बनकर दिखाई देते हुए भी वे दोनों एक दूसरे से अलग न होकर एक ही रहते हैं। उसी प्रकार निराकार परमात्मा साकार जीवात्मा के रूप में अवतरित होने पर भी उन दोनों में कोई भेद नहीं। जिस प्रकार गाढा घी गर्मी पहुँचाने पर पिघल कर पतला घी बन जाता है, उसी प्रकार साकार जीवात्मा सज्जनों की संगति से सत्-संस्कारों के संस्पर्श से निराकार परब्रह्म बन जाता है। पर इतना कहने से यह अर्थ कहां है कि जीवात्मा और परमात्मा पहले अलग हो जायं बाद में मिल जायं। वही निराकार परमात्मा उसी प्रकार साकार जीवात्मा का रूप धारण करता है, जिस प्रकार ठंडक पहुँचाने पर पतला घी गाँढा बन जाता है। फिर वही साकार जीवात्मा संस्कारों के कारण निराकार परमात्मा का रूप धारण कर लेता है, जिस प्रकार गाढा घी गर्मी पहुँचाने पर पिघलकर पतला घी बन जाता है।"

है क्या इस दुनियाँ में कोई, जो इस महिला की तरह अद्वैतीय हो!

जब अक्कमहादेवी ने अपने अद्वैत सिद्धांत से बताया कि मैं साकार होते हुए भी निराकार के अंतर्गत हूँ तो अल्लम ने (उसके उत्तर से ही चूक निकाल कर) पूछा —

"ना सत्तेनेंदु हेण कूगिदुदुंटे ?
बैचिट्ट बयके करेदुदुंटे ? होप्पिट्ट हालु सिहियादुदुंटे ?
ई मातु ओप्पवल्ल गुहेश्वर लिंगक्के।"
("कभी लाश पुकारेगी कि मैं मर गया हूँ ?
क्या मन में छिपी आशा बुलायेगी ?
दूध में दही डालने से वह दूध मीठा बनेगा क्या ?
यह बात हमारे गुहेश्वर के लिए मंजूर नहीं है।)

"अरी! तुम तो यह बता रही हो कि मैं चेन्नमल्लिकार्जुन के अंतर्गत हूँ। यह कैसे हो सकता है ? जब तुम्हें ब्रह्मज्ञान हो चुका है तो मौन रहना चाहिए था। क्योंकि सच्चे ब्रह्मज्ञानी कभी यह नहीं कह सकते कि मैं ब्रह्मज्ञानी हूँ। मौन धारण करने पर ऐसे सच्चे ब्रह्मज्ञानियों को देखने से ही पता लगता है कि ये ब्रह्मज्ञानी हैं। जिस प्रकार लाश अपने मुँह से कभी भी यह नहीं बोलती कि मैं मर चुकी हूँ, उसी प्रकार सच्चे ज्ञानी कभी भी अपनी डंगी आप ही नहीं हाँकते। उसी प्रकार सच्ची छिपी हुई इच्छा कभी भी आवाज नहीं करती, क्या दूध में दही डालने से मीठा बनेगा ? अगर तुम सच्चे रूप से चेन्नमल्लिकार्जुन के अंतर्गत हुई तो कभी भी ऐसी बातें मुँह से नहीं बोलती। क्योंकि जिसको ब्रह्मज्ञान हो चुका है वह मौन धारण करता है। ब्रह्मज्ञान गूँगे के गुड खाने के जैसे है। जब तुम वाणी से उसकी अभिव्यक्ति कर रही हो, उसको हम सच्चे कैसे मान सकेंगे ? ब्रह्मज्ञान का अनुभव वाणी से अतीत है, उसे वाणी द्वारा अभिव्यक्ति देना असंभव है। ब्रह्मज्ञान की ऊँचाई पर वाणी रुक जाती है, वह पंगु बन जाती है। इसलिए तुम्हारा यह कहना कि मैं चेन्नमल्लिकार्जुन के अंतर्गत हो गयी हूँ बिल्कुल आत्म प्रशंसा ही है। इसलिए हम यह कभी भी मानने तैयार नहीं हैं कि तुम्हरी मुक्ति हो चुकी है। भरा घडा कभी भी छलकता नहीं। घडा जब तक खाली रहता है तब तक उस से आवाज आती रहती है। पर जब वह भर गया तो उससे आवाज निकलती है क्या ? उसी प्रकार जब तक साधक साधना मार्ग पर रहता है तब तक बोलता है, जब वह सिद्धि की ऊँची चोटी पर पहुँच जाता है, तब उसकी वाणी रुक जाती है लेकिन तुम्हारी बानी अभी रुकी नहीं, तो इसका मतलब यही है कि तुम अब तक साधना मार्ग पर ही हो। सिद्धि तुम्हें प्राप्त नहीं हुई है।"

अक्कमहादेवी बडी चतुरता से ही प्रभु के प्रश्न का उत्तर देती है। जिन रूपकों से अल्लम ने अपने मन की शंका उठाई थी, उन्हीं रूपकों में वह निश्चयात्मकता से उत्तर देती है —

" सत्तहेण कूगिदुदुंटु , बैचिट्ट बयके करेदुदुंटु;
हेप्पिट्ट हालु गट्टिगोंडु सिहियादुदुंटु, इद निश्चयासि
नोडि चेन्नमल्लिकार्जुन देवरल्लि ।।"

(लाश पुकार भी सकती है, छिपी हुई आशा बुलाती भी है। दूध में दही डालने से वह गाढा बन कर मीठा भी हो जाता है। अगर आप ध्यान से विचार करेंगे तो चेन्नमल्लिकार्जुन की कृपा से इसका रहस्य खुल सकता है।")

अक्कमहादेवी के उत्तर से प्रभु स्तंभित रह जाते हैं। वे सोच में पड जाते हैं कि यह कैसे संभवनीय है ? इसीलिए वे महादेवी से पूछते हैं कि आश्चर्य की बात है ? इसका रहस्य तुम मुझे बताओ।

अक्कमहादेवी यों उत्तर देती है—"मरेदोरगि कनस कंड़ेळु वल्लि सत्तहेण एद्दित्तु। तन्न ऋण निधान पद्दु करेयित्तु। देप्पिट्ट हालु गट्टि तुप्पवागि सिहियागित्तु। इदक्के तप्प साधिसलेके चेन्नमल्लिकार्जुन देवर देवन अण्णगळिरा !"

"जब गाढी नींद आ जाती है तब सपने में मनुष्य अपनी लाश देख सकता है, तब वह पुकार उठता है कि मैं मर गया हूँ। जब मनुष्य आशा के कारण भूमि के अंतर्गत सम्पत्ति छिपा रखता है तो वह छिपी हुई भूम्यान्तर्गत सम्पत्ति उसे बुलाती है। दूध में थोडा सा दही डाल ने से दूध दही बन जाता है, उसको मथकर मक्खन निकालकर गर्मी पहुँचाने से वह घी बन जाता है। क्या वह घी मीठा नहीं होता ? तो इस में गलती क्या है ?"

मतलब यह है कि जब साधक साधना मार्ग में रहता है तब वह बोलता है। सिद्धि तथा समाधि स्थिति में मौन रहता है। समाधि से उतरने पर वह सिद्ध अपनी समाधि स्थिति के दिव्य-भव्यानुभव को लोगों के सामने अपनी वाणी द्वारा रख भी सकता है। साधक तथा सिद्धि का

यह साधना मार्ग "वाणी से मौनता तक" उन्नति पथ पर चलता है। फिर वह उसी मार्ग-क्रम से वापस भी आ सकता है। यह उसकी अवनति नहीं, पर दूसरों को भी उस मार्ग पर ले जाने की इच्छा का प्रतीक है। जिस प्रकार कई लोग नये मार्ग की शोधना में जाते हैं, उन में एक आगे चलकर मार्ग का पता लगाता है, फ़िर उसी मार्ग से वापस आ-कर अपने साथियों को भी उसी मार्ग पर ले जाता है। उसी प्रकार साधक भी अपनी साधना मार्ग की खोज कर लेता है, सिद्धि पा लेता है, फिर उसी मार्ग से वापस आकर अपने साथियों को भी अपने नये अनुभव का बयान सुनाता है और उसी मार्ग पर उन्हें भी हाथ पकडकर ले जाता है और सिद्धि के दर्शन कराता है। इस में गलती क्या है ? वह अपने मुँह से अपने नये अनुभव का बयान करता है, सिर्फ इतने से क्या उस के वे नये अनुभव झूठे हैं ?

अक्कमहादेवी के इस अकाट्य तर्क के सामने अल्लम निरुत्तर हो गये। उनकी तीक्ष्ण बुद्धि भी प्रसन्न हो उठी। उनके मुँह से अप्रयत्न से ही यह प्रशंसोद्गार निकल पडा—'इदु ईग लेसाय्तु..........." (यह अब ठीक है......)

उफ् ! इतनी छोटी सी प्रशंसा की पंक्ति के लिये कितनी बड़ी परीक्षा देनी पडी महादेवी को ! लेकिन वह अपनी दृढ़ता के कारण, अपनी सद्भक्ति के कारण, अपनी सहृदयता के कारण, उस में आसानी से उत्तीर्ण हो गयी। प्रभुदेव की प्रसन्नता के प्रमाण-पत्र के मिलते ही सभा में बिजली सी दौड गयी। संत समूहों के हृदय-मयूर नाच उठे। अक्क-महादेवी के प्रति उनका अपरिमित अभिमान प्रशंसा-प्रवाह के रूप में उमड पड़ा। महान ज्ञानी चेन्नबसवेश्वर ने कहा—

"अजकल्प कोटि वरुषदवरेल्ल हिरेयरे ?
हुत्तेरि बेत्त बेळेद तपस्वीगंळेल्लरु हिरियरे ?
नडुमुरिदु, गुडुगूरि, तलेनडुगि, नेरेतेरे हेच्चि, मतिगेट्ट ।

ओंदनाड्लु होगि उंबत्तनाडुव अज्ञानिगळेल्लरु हिरियरे ?
अनुवनरिदु, धनव बेरेसि, हिरिदु किग्दिंब भेदव मरेदु
कूडल चेन्न संगय्यनल्लि बेरसि बेरिल्लदिप्प, हिरियतन
नम्म महादेवियक्कंगायित्तु ॥"

(अज-कल्प-करोड बरसों तक जीवित रहनेवाले बड़े हैं क्या ? शरीर पर वल्मीक चढकर, बाँस के बढ जाने मात्र से कोई तपस्वी बडा है क्या ? झुकी कमर, जोर से चलनेवाली साँस, कँपता सिर, सफेद बालवाले, बुद्धि हीनता के कारण एक के वदले नौ नौ बातें बोलने वाले बडे हैं क्या ? सच्चाई को पहचान कर घनता में लीन होकर छोटे-बडे के भेद भूलकर हमारे कूडल चेन्नसंगय्या में लीन होने की महानता हमारी महादेवियक्क की है।")

कर्मयोगी सिद्धराम ने अपनी शाबाशी दी ---

अहुदहुदु, मत्तेनु ? मरहिगे हिरिदु- किरिदुटल्लदे
अरिविगे हिरिदु किरिदुंटे ?
सावंगे भय उंटल्लदे अजातंगे भयउँटे ?
कपिल सिद्ध मल्लिनाथनल्लि, महादेवियक्कन निलविगे शर-
णेंदु शुद्धनादेनु "

(हाँ, और क्या ? अज्ञान के लिए छोटे-बडे का भेद है तो ज्ञान के लिए छोटे-बडे का भेद है क्या ? मृत्यु के लिए भय तो अजात के लिए भय है क्या ? कपिल सिद्ध मल्लिनाथ में महादेवियक्क की महानता को पहचानकर मैं उसे प्रणाम करके धन्य हुआ ")

स्वतः अल्लम प्रभु के मुँह से अक्कमहादेवी की प्रशंसा पावन गंगा मैया की तरह निकल पडी ---

"तनुगुण नास्तियागि लिंग सांगियादळु । मनगुण नास्तियागि अरिवु सांगियादळु ॥ भाव गुणनास्तियागि महा प्रभे तानादळु ॥"—

(" शरीर गुण के नाश हो जाने के कारण लिंग-संगिनी बनी। मन गुण के नाश हो जाने के कारण ज्ञानसांगिनी बनी। भाव गुण के नाश हो जाने के कारण खुद ही महान् प्रभा बन गयी। ")

इन सभी अभिमानी प्रशंसकों की प्रशंसा सुन कर महादेवी विनीत स्वर में बोली —

" एन्नगेलय्या! एन्न भक्ति बसवण्णन धर्म, एन्न ज्ञान प्रभुदेवर धर्म एन्न परिणाम चेन्नवसवण्णन धर्म, ई मूवर ओंदोंद कोट्टरेनगे·········

(मैं इस प्रशंसा के योग्य नही हूँ। मेरी भक्ति बसवेश्वर जी का धर्म है। मेरा ज्ञान अल्लम प्रभुका धर्म है। मेरा परिणाम चेन्नमल्लिकार्जुन का धर्म है। इन तीनों ने मुझे अपना एक एक गुण दिया, ताकि मैं इस स्थान के योग्य बन सकूँ।")

महादेवी की महानता इसी विनीत भावना में छिपी है। उस की विनीत भावना कल्याण के सन्त-समूह में हर्ष का प्रवाह लेकर आयी। इस के बाद में उसने कल्याण में बसवेश्वर जी के घर में रह कर अपनी साधना को आगे बढाया होगा। इन सभी संतो की सत्संगति के कारण उस को साधना-मार्ग की सच्चाई दिखाई पडी होगी। आखिर वह अल्लम की अनुमति लेकर अपने आराध्य देवता चेन्नमल्लिकार्जुन के साक्षात्कार के लिए श्रीशैल की ओर चल पडी। उस दिन शरण-समूह में बिछोह का वातावरण छा गया। सभी संतों को उतना ही दुःख हुआ जितना कि अपनी बेटी को ससुराल भेजते समय एक माँ को होता है। क्यों न हो! वह तो उन संतों के हृदय की करुणा की शिशु ही तो थी न ? महादेवी को भी कम दुःख न हुआ। पर भक्ति की ओर बढना अनिवार्य है। इस अनिवार्यता के कारण उसे शरणों की संगति का भी त्याग करना पडा। वह श्रीशैल के कदली बन में शरीर त्याग कर के मुक्ति प्राप्त करने के लिए निकल पडी। रास्ते में भी अपने हृदय देवता की खोज करती हुई श्रीशैल की ओर निकल पडी।

अब वह अपने तन-मन-गुणों का नाश करके सचराचर को पीछे डालकर अपने हृदय देवता में सशरीर लीन होने के लिए श्रीशैल की ओर चल पडी। दूर से ही पावन श्रीशैल के दर्शन से वह पुलकित हो उठी। उस पावन स्थान के दर्शन से उसके शरीर के रोएँ उठ खडे हुए। श्रीशैल के गिरि शिखरों को देखते ही उसे प्रभुदेव से कथित कदली बन की याद आई। उसके तन-मन और अचराचर वस्तुएँ भी उसे कदली वन की तरह ही दिखाई पडने लगीं। उस सुन्दर कदली के बीच में उसको चेन्नमल्लिकार्जुन के दर्शन हुए। श्रीशैल के पेड-पौधे, मिट्टी-पत्थर, सब सृष्टि, उसे चेन्नमल्लिकार्जुनमय ही दिखाई पडने लगे। बहनेवाली हवा उसके कानों में मल्लिकार्जुन का नाम ही फूंकने लगी। सूर्य की किरणों में फ़ूलों की महक में पेड-पौधों की हरिबाली में, सृष्टि के प्रत्येक कण में चेन्नमल्लिकार्जुन ही दिखाई पडने लगे। इसी दिव्य भावना की उमंग में वह श्रीशैल की सीढियों पर चढती गयी और उसकी चोटी तक पहुँच गयी। लीजिए, अक्कमहादेवी के मुँह से ही उसके श्रीशैल-आरोहण का वर्णन सुनिये ---

„मूल द्वारद बेर मेट्टि भूमंडलवनेरिदे
आचारद बेर हिडिदु ऐक्यद तुदियनेरिदे ।।
बैराग्यद सोपानदिंद श्रीगिरियनेरिदे,
कैविडिदु करेदुकोळ्ळा, चेन्नमल्लिकार्जुना ।।

(„मूल-द्वार की जड कुचल कर मैं भूमंडल पर चढ गयी।
आचार की जड पकड कर ऐक्यता की चोटी पर मैं चढ गयी।
विराग की सीढियों पर चढकर श्रीशैल पर मैं चढ गयी।
हाथ पकड कर बुलालो, ओ मेरे चेन्नमल्लिकार्जुन !")

चेन्नमल्लिकार्जुन उसकी पुकार पर दौड पडे। वहाँ उसको मल्लिकार्जुन का साक्षात्कार हुआ। देखिए; उस अनुपम, अद्वितीय, अनादि, अखिलेश्वर की रूप छवि को ---

"होळेव कॆंजॆडॆगळ, मणिमुकुटद, ओप्पुव सुलिपल्ल, नगॆमोगद,
कंगळ कांतियि ईरेळु भुवनवं बॆळगुव दिव्य स्वरूपन कंडे नानु!
कंडॆन्न कंगळ बर हिंगित्तु ...."

('चमकने वाली भूरि जटायें, सिर पर मणिमुकुट, चमकनेवाले सफेद दांत, हँस-मुख, आँखों की कांति से जो चौदह लोकों में प्रकाशित है, ऐसे दिव्य स्वरूप को देखा मैं ने। देख कर मेरी आँखों की प्यास बुझ गयी।")

आह! कैसा मनोहर वर्णन है, उस दूल्हे का! ऐसे दिव्य स्वरूप को देख कर महादेवी की आँखों की प्यास बुझ गयी'। न केवल वह इस दर्शन से खुद धन्य बन गयी बल्कि उस पावन अनुभव को वाणी द्वारा अभिव्यक्ति देकर पाठकों को भी उस के दिव्य दर्शन कराये, उसने। उस समय से आज तक कई लोग श्रीशैल आते-जाते रहे हैं। पर अक्कमहादेवी के जैसे जाने का भाग्य कितनों को मिला है!

अक्कमहादेवी के श्रीशैल के आरोहण की वर्णना में सिर्फ भौतिक शिखरारोहण की ही वर्णना नहीं मिलती, बल्कि वह कहानी है, एक जीवात्मा के परमात्मा के साथ मिल जाने की, वह है, एक साधक की सिद्धि तक के साधना मार्ग की अभिव्यक्ति! इस प्रकार महादेवी श्रीशैल के कदली बन में अपने आराध्य देव में लीन हो गयी।

अक्कमहादेवी के साधना-मार्ग की विशेषता :—

अक्कमहादेवी ने आध्यात्म क्षेत्र में वह कार्य करके दिखाया, जिसे दुनियाँ के बडे बडे पुरुष भी आसानी से नहीं कर सकते। एक अबला के रूप में अवतरित महान आत्मा थी, उसकी आत्मा। अब तक तो हमने स्थूल रूप से उसके साधना-मार्ग का परिचय प्राप्त कर लिया। अब हम उस मार्ग की विशेषताओं पर विचार करेंगे। उसकी साधना और सिद्धि पर विचार करने पर पता लगता है कि अपने निश्चित मार्ग पर अटल विश्वास, उस मार्ग पर अचलता के साथ चल सकने का आत्म धैर्य, इस

धैर्य और विश्वास में स्त्री-सहज कोमलता, ये महादेवी के साधना-मार्ग की विशेषतायें हैं। दुनियाँ के बडे-बडे दार्शनिक और तत्वज्ञानियों ने स्त्री को माया कहा है, मोह कहा है। पर साधना-मार्ग में रत पुरुष के लिए स्त्री जिस प्रकार माया है, उसी प्रकार साधना-मार्ग में रत स्त्री के लिए पुरूष भी माया है। इस सिद्धांत को रखने में अक्कमहादेवी ने अपरिमित धैर्य का परिचय दिया है। अध्यात्म साधन में हिन्दी साहित्य की संत मीरा अक्कमहादेवी की समानता कर सकती है। इन दोनों में बहुत सी समानतायें हैं। दोनों ने बचपन से ही अपने आराध्य देव को चुन लिया। दोनों ने अपने अपने आराध्य देव की "सति-पति" भाव से अर्चना की। अपने आदर्श की साधना के लिए दोनों ने गृह-त्याग किया। अपने अध्यात्म साधना-मार्ग की सिद्धि में दोनों को संतों की सहायता मिली। मीरा ने संत रैदास से दीक्षा ली तो अक्कमहादेवी ने अल्लमप्रभु से श्रीशैल के कदली बन में अपने इष्ट देव में लीन होने का आदेश पाया। दोनों के पदों में स्त्री-सहज कोमलता और सुन्दरता पायी जाती हैं। इतनी समानताओं के होते हुए भी दोनों में अंतर भी है। जब घर छोडने का समय आया तो मीरा दुविधा में पड गयी। जब घरवालों से वह तंग आ गयी तो उससे मुक्ति पाने के लिए उसने तुलसी जी की सलाह माँगी। तुलसी ने उसका पद पढ कर उत्तर लिख भेजा :—

> "जाकै प्रियन राम वैदेही।
> सो नर तजिये कोटी बैसीराम जदपि परम सनेही॥"

पर अक्कमहादेवी इस विषय में मीरा से एक कदम आगे निकल गयी। जब कौशिक का बर्ताव उसे ठीक न लगा तब उसने न किसी से सलाह माँगी और न अपने माता-पिता के घर ही गयी। वह चाहतीं तो अपने माता-पिता की पनाह में रहकर ही साधना कर सकती थी। पर, उस परब्रह्म के सामने वह संसार के सब नाते तोड डालना चाहती थी। इसीलिए वह उनके आश्रय में रहने से इनकार करके निकल पडी। उसे न तो जंगल के भयानक हिंस्र पशुओं का डर था और न

माता-पिता के बिछोह का दुःख। मीरा के श्रीकृष्ण अंत तक सगुण और साकार हैं। पर अक्कमहादेवी के चेन्नमल्लिकार्जुन सगुण से निर्गुण और निराकार रूप धारण कर लेते हैं। अक्कमहादेवी की भक्ति साधना सगुण से निर्गुण की ओर, साकार से निराकार की ओर बढती चलती है और अंत में वह उस निराकार में लीन होकर स्वंय निराकार हो जाती है। वह खुद पहले निराकार थी, अंत में निराकार ही हो जाती है।

अक्कमहादेवी की साधना में पुरुष सुलभ धीरता और स्त्री सुलभ सुन्दरता दोनों पायी जाती हैं। इसीलिए कर्नाटक के सुप्रसिद्ध आलोचक श्री. एम. आर. श्रीनिवास मूर्ति जी ने एक जगह पर लिखा है — "महादेवीयक्क की जीवनी स्त्री के गौरव की साधना का, स्त्री की स्वतंत्रता की साधना का, स्त्री की परमार्थ साधना का, एक महान् अध्याय है।'

बीस-पच्चीस वर्ष की अल्पायु में एक स्त्री की यह साधना अद्वितीय है, अनुपम है, अद्भुत है और महान है।

अक्कमहादेवी की काव्य-कला :—

अब तक हमने देखा कि महादेवी साधना के किस कठोर मार्ग से चल पडी। पर यह कठोर साधना-मार्ग भी उस के लिए आसान बन गया। ऐसी कौन सी शक्ति थी, जिसने अध्यात्म के पथरीले मार्ग को भी राज मार्ग बना दिया? वह शक्ति थी, अक्कमहादेवी के हृदय की सौन्दर्य प्रियता। इसी सौंदर्य प्रियता के कारण ही अध्यात्म के लोहे का चना भी उसके मुँह में पड कर पच गया। महादेवी के वचन केवल बुद्धिगम्य कठोर तार्किक विषयों से ही ओत-प्रोत नहीं हैं बल्कि उन में हृदय गम्य कोमल भाव भी बिखरे पडे हैं जो पढनेवालों के हृदय में घर कर जाते हैं। इसलिए अक्कमहादेवी जिस प्रकार वीर विरागिनी थी, उसी प्रकार श्रेष्ठ कवियित्री भी थी। उस की प्रत्येक उक्ति रस बरसाती है। प्रत्येक वाक्य-खंड भी विभाव, अनुभाव, व्यभिचारियों से पुष्ट होकर परिपूर्ण रस हो जाता है। अक्कमहादेवी का उद्देश्य "सुन्दरम्" से "शिवम्" की ओर

जाना था। इसलिए उसका ध्यान समाज के बाह्याडंबर आदि का खंडन-मंडन करने की ओर न गया। उसका तो उद्देश्य सिर्फ "सुन्दरम्" को देखकर दूसरों को दिखाकर–'शिवम् के दर्शन करना–दूसरों को भी कराना–था। इसलिए समाज की कूरूपता की ओर उसका ध्यान न गया। पर जब कभी भीं यह कुरूपता उसके वैयक्तिक साधना-मार्ग का रोडा बनकर आयी तो उसका डट कर विरोध किया। इस विरोधाभिव्यक्ति में भी वह रस से पुष्ट उक्तियों का ही उपयोग किया करती थी, जो सुनने वालों के हृदय पर काफी असर डालती थीं। इसलिए अध्यात्म जैसे नीरस विषय भी उसके हाथ में पड कर सरस विषय बन गया है। इस का कारण उसका स्त्री सुलभ कोमल हृदय था। बुद्धिगम्य विषय को हृदयगम्य बनाना ही साहित्य का कर्म है। अक्कमहादेवी की विशेषता भी यही है। कोमलता, सुन्दरता और ज्ञान के संगमों के कारण ही उसने आत्मा की मुक्तावस्था तथा हृदय की मुक्तावस्था, दोनों की साधना की।

अक्कमहादेवी के वचनों में काव्यत्व को खोजने के लिए हमें अष्टादश लक्षण-कवि समयादि-प्राचीन सूची देखने की जरूरत नहीं है। क्योंकि वे वचन " साहित्य के लिए साहित्य " सिद्धान्त पर रचे गये नहीं हैं। सीधे हृदय से निकल कर हृदय में घुसने वाली सूक्तियाँ हैं। ' रसात्मकं वाक्यम् काव्यं" की उक्ति उनके लिए सार्थक बनी है। अक्कमहादेवी के वचनों का प्रधान रस "भक्ति" है। यह भक्ति " सति-पति भाव से अभिव्यक्त होने के कारण ''शृंगार' भक्ति के पूरक रूप में आया है। शृंगार के दोनों पक्षों-संयोग तथा विप्रलंभ–की अभिव्यक्ति हुई है। उस के विप्रलंभ शृंगार में स्त्री-पुरूषों की भौतिक चाह नहीं बनी है, पर वह तो आत्मा की परमात्मा के संयोग के लिए तडपन है। संयोग, शृंगार में किसी विशिष्ट नायक और नायिका के संयोग का 'रति-भाव' नहीं है। पर परमात्मा साक्षात्कार तथा मुक्ति साधना का अप्रतिम भाव है। इस प्रकार अक्कमहादेवी ने भारतीय काव्य-मीमांसा के ' रस शास्त्र का उन्नयन किया है। तब तक के कर्नाटक के महाकवियों ने जिन्हें हम दरबारी कवि कह

सकते हैं —अपने आश्रयदाता और उनकी पत्नियों के संयोग और वियोग को ही शृंगार के चौखटे में रखने का यत्न किया था। पर अक्कमहादेवी और उसके समकालीन शिव शरणों ने दर्शन और साहित्य का समन्वय करके सरस्वती जी को जन-सामान्यों के हृदय-सिंहासन पर प्रतिष्ठापित किया। पांडिताऊपन से युक्त प्रगल्भ पद्य शैली को छोड कर जन सामान्य सुलभ हृदय-गद्य शैली को अपनाया, उन्होंने। फलस्वरूप तीन काम सफल हुए–पहला काम था जनता की सर्वतोमुख अभिवृद्धि-दूसरा काम था, सर्व-मान्य नवीन धर्म की स्थापना –तीसरा काम था, नवीन साहित्य के लिए भाषा का परिमार्जन। यद्यपि अक्कमहादेवी के वचन गद्य है, तथापि उनमें गीतात्मिकता भी काफ़ी है। उस के वचनों का कर्नाटक के श्रेष्ठ संगीतकार मल्लिकार्जुन मन्सूर तथा बसवराज राजगुरु, आदियों ने शास्त्रीय संगीत में राग संयोजन किया है। गद्य होने पर भी उनमें पद्य की सी भाव-विभोरता, रसात्मिकता पायी जाती हैं। उसके वचन इति-वृत्तात्मक न होने पर भी प्रत्येक वचन अपना विशिष्ट सन्दर्भ भाव को अभिव्यक्त करने में परिपूर्ण है। इसलिए किसी बडे महा काव्य की रचना न करने पर भी महादेवियक्क को कर्नाटककी आदि कवयित्ति का स्थान मिला है। कर्नाटक के महान-आलोचक श्री' रँ० श्री० मुगलीजी ने अपने "कन्नड साहित्य चरित्रे" नामक ग्रंथ में महादेवी के बारे में ये उद्गार अभिव्यक्त किए हैं —

"महादेवियक्क अपनी व्यक्ति विशेषता से अपने वचनों की महिमा से, श्रेष्ठ "शिवशरणे* है। जहाँ तक हमें पता है, कन्नड साहित्य संसार में वही प्रथम कवियित्री है। ......

अध्यात्म तथा गद्य कवित्व के सम्मिलन के लिए तो निस्संदेह वही प्रथम है।" ×

---

* "शिवशरण" इसका स्त्रीलिंग "शिव शरणे" है। शरण=सन्त।
×'कन्नड साहित्य चरिणे' रँ० श्री० मुगली पृष्ठ 171।

उसके साधना-मार्ग की महत्ता की अभिव्यक्ति करते हुए श्री मुगलीजी ने लिखा है—

"सांप्रदायिक समाज-शृंखलाओं को तोड कर, विवाह संस्था का परित्याग करके चेन्नमल्लिकार्जुन नामक "विश्व पति' को ही पति के रूप में स्वीकार करके उसने जो उग्र साधना की तथा सिद्धि प्राप्त कर ली, उसे देख कर दाँतों तले उँगली दबाना पडता है।" +

इस प्रकार कन्नड साहित्य की इस कोयल ने अपनी सुरीली आवाज़ में अध्यात्म संदेश भरकर दर्शन के विशाल आकाश में स्वच्छन्द होकर विचरण किया। उस के इस विचरण में भाव पक्ष तथा कलापक्ष रूपी दो पंखों ने अपना पूर्ण सहयोग दिया। उसके इस अप्रतिम उडान के दर्शन पाकर कोई भी व्यक्ति "धन्य-धन्य' का उद्गार निकाले बिना रह नहीं सकता।

लेखक: **गिरिजातनय, शिरोक**

+ वही।

श्रीमन्मध्वाचार्य

भारतीय संस्कृति एक ऐसा पंचामृत है जो इस महान देश के विभिन्न जन समुदायों के आचार विचारों, श्रद्धा विश्वासों और मत सिद्धान्तों के दूध-दही, घी-शक्कर और मधु के मधुर मिलन से सम्पन्न हुआ है। इस में योग देनेवालों में द्वैत वेदान्त के प्रवर्तक श्रीमन्मध्वाचार्य का भी विशिष्ट स्थान है।

दक्षिण कन्नड जिसे 'तुळुनाडु' भी कहते हैं मैसूर राज्य के अन्तर्गत एक छोटा सा परन्तु सुप्रसिद्ध प्रदेश है। इसका उल्लेख रामायण, महाभारत, अशोक के शिलालेख आदि में भी 'शान्तिक' 'तौलव' 'आलुव' आदि नामों से हुआ है। पश्चिमांबुधि के तरंग ताडित तट पर दक्षिण में चंद्रगिरि नदी से उत्तर में लगभग गोकर्ण तक विस्तृत तुळुनाडु पूर्व में गगन चुम्बी सह्यादि से आवृत है। छोटी-छोटी पहाडियों के सिलसिले के मध्य-मध्य में बलखाती नदी नालों की दोनों बगलों में लह-लहाते धान के खेतों से भरा यह प्रदेश प्रकृति सुन्दरी की लीला भूमि है। इस तुळुनाडु या दक्षिण कन्नड़ के मध्य में रत्नहार की मध्यमणि की भाँति शोभित उडुपि अत्यन्त प्राचीन पुण्यक्षेत्र है। 'उडुपि' नाम उडुपु या उड्पु का रूपान्तर है। कोई-कोई कहते हैं कि अभिशप्त उडुपति चंद्रमा ने

इसी क्षेत्र में शिव की तपस्या की थी, शिव ने उसे दर्शन देकर शाप मुक्त किया। फिर उसकी प्रार्थना पर वहीं रह गये। उस स्थान पर चन्द्रमौलीश्वर का मन्दिर वना जो आज भी विद्यमान है। इसी से इस स्थान का नाम उडुपि पड़ा। इसी मन्दिर के पीछे अनन्तेश्वर नाम का एक और उतना ही प्राचीन मन्दिर है। दोनों मन्दिरों की बनावट तथा अनन्तेश्वर मन्दिर के सामने विद्यमान शिला निर्मित मानस्तम्भ से जो केवल जैन 'बसदि' यों के सामने ही रहा करता है, विदित होता है कि आरम्भ में ये जैन मन्दिर रहे होंगे। शिव का कहीं भी अनन्तेश्वर नाम सुनने में नहीं आता। सम्भव है, ये अनन्तनाथ और चन्द्रनाथ नामक तीर्थ घरों के 'बसदि' (मन्दिर) रहे होंगे। कालान्तर में करणान्तर से वे शिव मन्दिरों में परिवर्तिन्न हो गये होंगे। इन मन्दिरों के पास ही उत्तर की ओर उडुपि कृष्ण का प्रसिद्ध मन्दिर है। अनन्तेश्वर चन्द्रेश्वर मन्दिरों के चारों आंगनों के छोरों पर दो-दो के हिसाब से कुल आठ मठ हैं। यही उडुपि आज माध्व सम्प्रदाय या द्वैत वेदान्त का केन्द्र है। पर आज से आठ सौ साल पहले यह अद्वैतियों का अड्डा था।

उडुपि से आठ मील पर आग्नेय दिशा में कुंजार गिरि नामक पर्वत पर दुर्गा का एक भव्य मन्दिर है। उसके पदतल में पाजकक्षेत्र नामक एक गाँव है। इसके आसपास परशु, धनुष, गदा, और बाण नामक चार तीर्थ हैं। इसी गाँव में मध्यगेह भट्ट (नडिल्लाय) नामक एक ब्राह्मण रहते थे। वेदवती उनकी धर्म पत्नी थीं।

मध्यगेह भट्ट के दो पुत्र हुए जो शैशव में ही चल बसे। सन्तान के नाम पर केवल एक पुत्री थी। भट्टजी पुत्र संतान के लिये व्याकुल रहते थे। वे हर दिन गाँव से उडुपि तक पैदल जाते और अनन्तेश्वर से पुत्र संतान के लिये प्रार्थना करते थे। लगातार बारह साल तक की उपासना और प्रार्थना के बाद उनका मनोरथ पूर्ण हुआ। सन् 1238 ई० को विजयदशमी के दिन उनके एक पुत्र पैदा हुआ, यही पुत्र आगे चलकर

मध्वाचार्य नाम से विख्यात हुआ। परन्तु उन दिनों उसका नाम वासुदेव था।

वासुदेव बड़ा होनहार था। बचपन से ही उसके व्यवहारों से उसकी शक्तिमत्ता, स्वतन्त्रता, निर्भीकता, अदम्य उत्साह, तथा अपना पथ आप ही बनाने की प्रवृत्ति लक्षित होती थी। उसके अवयव सुगठित थे, रूप सुन्दर था, व्यक्तित्व आकर्षक। शरीर असाधारण रूप से बलवान था। आरम्भ से ही उसमें असाधारण प्रवृत्तियाँ दिखाई देती थीं। एक बार माँ उसे बेटी के हाथों में सौंप कर किसी काम पर चली गयी। माँ के ओझल होते ही वासुदेव ऐसा रोने लगा कि उसे बहलाने के सारे प्रयत्न व्यर्थ हो गये। लाचार होकर बहिन वासुदेव को बैल के लिये उबाल कर रखी हुई कुलथी के पास ले गई। वासुदेव उसे देखकर चुप हो गया और कुलथी मुट्ठी में भर-भर कर खाने लगा। जब आखिरी दाना तक उसके पेट में चला गया तभी वह वहाँ से उठा। यह बात सुनकर माता-पिता घबरा गये, पर बच्चे ने उसे ऐसा हज्म कर लिया कि कोई अनहोनीं नहीं हुई।

एक और घटना है कि एक दिन बच्चा वासुदेव दिन भर दिखाई नहीं पड़ा। सब जगहों में ढूँढा गया, पर कहीं न मिला। आखिर सायंकाल के समय लोगों ने देखा कि वासुदेव एक दुर्दान्त साँड की पूँछ में लटका आनन्द से मुस्कुराता आ रहा था। वस्तुतः सबेरे जब साँड चरने के लिये निकल गया था तभी उसकी पूँछ को पकड़ कर लटकते यह बालक भी चला गया था, दिन भर उसी में झूलता रहा। लोगों ने इस पर ध्यान नहीं दिया था।

कहते हैं कि एक बार कोई कर्ज़दार कर्ज वसूल करने की तत्कालीन प्रथा के अनुसार मध्यगेह भट्ट के घर की देहली पर बैठकर धरना देने लगा तो भट्टजी बिना खाये पिये चिंताक्रान्त हो गये। यह देख कर वासुदेव कर्ज़दार को एक पेड के नीचे बुला ले गया और कुछ इमली के

बीजों को चुनकर उसके हाथ में यह कहकर डाल दिया कि लो, अपना पैसा। इतना कर वासुदेव घर की ओर भाग गया, कर्ज़दार ने आश्चर्य से देखा कि उसके हाथों में सिक्के भरे हुए थे। वह मध्यगेह भट्ट से यह कहकर चला गया कि वे ऋणमुक्त हैं, वासुदेव ने सारा ऋण चुका दिया है।

वेदवती एक बार अपने मायके गयी थी जो उडुपि से छः सात मील दूर उत्तर की ओर नेयम्पल्लि या निडियूरु नामक गाँव में था। वहाँ कोई पर्व था। उस समय वासुदेव तीन-चार साल का ही था। मध्यगेह भट्ट और उनकी पत्नी बहुत दिनों के बाद मिले। बंधुओं और अन्य अतिथियों के साथ वार्तालाप में तल्लीन थे। वासुदेव इस अवसर से लाभ उठाकर चुपके वहाँ से खिसक गया, कोडऊर, बन्नंजे आदि के मंदिरों से होते हुए सीधे उडुपि पहुँचा। इधर बहुत देर के बाद माता पिता का ध्यान वासुदेव की ओर गया। उसे न पाकर ढूंढने लगे। अतिथि भी घबरा गये। आनंदोत्सव रुक सा गया, लोग वासुदेव को ढूँढते चारों ओर निकल पडे; एक दल उडुपि भी पहुँचा। वह दल ज्यों ही अनन्तेश्वर के पास पहुँचा तो उसने वासुदेव को बडी शान्ति के साथ मंदिर से बाहर आते देखा। यह पूछने पर कि कैसे वह अकेला वहाँ तक आया? किसने मार्ग दिखाया? वासुदेव सहज भाव से बोला—क्यों, अकेला कैसा! शंकर नारायण (कोडऊर मंदिर के देवता) बन्नंजे तक साथ आये और श्रीहरि उडुपि तक साथ रहे,

कुछ दिनों के बाद पिता ने वासुदेव के अक्षराभ्यास का श्रीगणेश किया, मध्यगेह भट्ट स्वयं बडे पंडित थे। घर पर ही पुत्र को पढ़ाने लगे। वासुदेव की ग्रहण शक्ति इतनी तीव्र थी कि वे जो कुछ पढ़ाते थे वह झट पढ़ डालता था। जब कभी कोई पुराणिक या कथा वाचक कोई प्रवचन करते तब वासुदेव बडे ध्यान से सुनता। फिर विनय के साथ उनके दोषों या भूल-चूकों पर उनका ध्यान आकर्षित करता था। लोग उसकी इस मेधाशक्ति पर चकित रह जाते थे, कहते हैं कि वह पिता तक की ऐसी भूलों को निर्भीकता से परंतु सविनय दिखा देता था। उसकी इस अपूर्व मेधा शक्ति को देख कर पाँच साल की अवस्था में ही

पिता ने उसका उपनयन संस्कार करा दिया। इसके उपरांत पास ही की एक ग्राम पाठशाला में नियमित विद्याध्ययन के लिये उसे भर्ती कराया। पाठशाला के अध्यापक 'तोटन्तिल्लाय' बडे विद्वान और उपनिषदों के विशेषज्ञ थे। उनके पास बड़ी संख्या में विद्यार्थी अध्ययन करते थे।

अध्ययन से बचे समय में कुंजार गिरि पर चढ़ना उतरना वासुदेव का अत्यंत प्रिय कार्य था। वह गिरि और उस पर का वह दुर्गामंदिर है भी बड़ा सुन्दर शान्त स्थान। गिरि पर चढ़कर देखें तो पश्चिम सागर से लेकर सह्याद्रि तक के मनोहर दृश्य तन मन को पुलकित करा देते हैं। अन्तर को अवर्णनीय शान्ति से भर देते हैं। एक बार वासुदेव गिरि पर चढ़ रहा था तो रास्ते के वन प्रदेश में झुरमुटों के बीच से एक भयानक घट सर्प फन फैलाये फुफकारते निकला और वासुदेव पर झपट पड़ा। वासुदेव ने अविचल भाव से उसके फन को पकड लिया। उसकी वज्रमुष्टि में फँस कर सर्प चटपटाने लगा। वासुदेव ने वहीं पर उसके फन को पावों से कुचल डाला। इस घटना का स्मारक आज भी उस स्थान पर विद्यमान है।

वासुदेव ने इस पाठशाला में संस्कृत साहित्य, न्याय, व्याकरण, वेद-वेदान्त आदि का अध्ययन किया। अध्यापक जब पढ़ाते थे तब उनके अन्तर्ध्यान पर पडा पर्दा मानों हट सा जाता था। सब कुछ अनायास हृदयंगम हो जाता था। अतः वह अन्य छात्रों की भाँति सदा पुस्तकें लिये कम बैठा रहता। अधिक समय खेल कूद में तैरने, 'शक्ति शिलाओं' को (कन्नड-शक्तिकल्लु) उठाने में लगाता था। उसके पँजे में फँस कर छूट पाना बडे बडे शक्तिशालियों को कठिन हो जाता था। एक बार उसने एक बहुत बड़े भारी शिलाखंड को अकेले उठाकर गाँव के बाँध में लगा दिया था जो आज भी उनकी भीमशक्ति का साक्षी बना खडा है। लोग उनको ठीक ही भीमसेन कहा करते थे। वासुदेव को अधिक समय खेलकूदों में लगाते देख अध्यापक बिगड पडे और शिकायत की कि वह पाठों की

उपेक्षा करता है। वासुदेव ने कहा कि मैं पाठों को भली भाँति जानता हूँ। अध्यापक ने परीक्षा के लिए प्रश्न किये तो वासुदेव के उत्तरों से विस्मित हो गये और हर्षातिरेक से मौन हो गये।

पाठशाला का अध्ययन समाप्त सा हो रहा था। वासुदेव के पाठशाला से बिदा लेने का समय निकट आ रहा था। इसी समय अध्यापक वासुदेव को ऐतरेय उपनिषद पढ़ाने लगे। वासुदेव की अत्यंत प्रिय उपनिषद् थी यह। इसके प्रति आजीवन का उनका विशेष पक्षपात रहा। अध्यापक जब इसका विवेचन उसी पुरानी घिसी-पिटी व्याख्या की परिपाटी से करने लगे तो वासुदेव ने अध्यापक को अलग ले जाकर अपनी नयी व्याख्या सुनाई। यह सुनकर अध्यापक इतना प्रभावित हुए कि उनके हृदय में हरि भक्ति उमड़ सी पड़ी। प्रसन्नता से उन्होंने अनुभव किया कि शिष्य ने अपूर्व और अमूल्य गुरु दक्षिणा इस व्याख्या के रूप में चुकायी। आनंदाश्रु से भीगे नयनों से कृतज्ञता पूर्वक शिष्यों को देखा। सज्जनों में सच्ची हरि भक्ति को जगाने और संसार में भक्ति और उपासना का मार्ग प्रशस्त करने का आशीर्वाद देकर वासुदेव को बिदा किया।

वासुदेव का मन गेरुअे की ओर आकर्षित हो रहा था। उसे अनुभव हो रहा था कि मैं केवल खा-पी कर चल पड़ने के लिये नहीं आया हूँ। मुझे बहुत कुछ करना है। इसके लिये मुझे सन्यास लेना है।

इस प्रकार अपने को महान उद्देश्य के लिये अर्पित करने का संकल्प करके ऐसे गुरु की खोज में निकले जो उन्हें सन्यास मार्ग पर ले जा सके। ऐसे गुरु के लिये उन्हें अधिक दूर नहीं जाना पड़ा। उन दिनों उडुपि अद्वैतियों का केंद्र था। बंडार केर मठ के स्वामी जी अच्युत प्रेक्षाचार्य अद्वैती सन्यासी थे। उन दिनों वे उडुपि में ही थे। वासुदेव सीधे उन्हीं के पास पहुँचे। इधर अच्युत प्रेक्षाचार्य जी को ऐसा आभासित होने लगा था कि ईश्वरानुग्रह से उन्हें एक ऐसे शिष्य की प्राप्ति होगी जो संसार में एक नया प्रकाश फैलायेगा। उडुपि की कीर्ति को चारों ओर फैला देगा, वासुदेव के तेजोदीप्त व्यक्तित्व को देखने पर उनको लगा कि

शायद वह शिष्य यही है। उन्होंने वासुदेव का प्रेमपूर्वक स्वागत किया। उसकी प्रार्थना पर उन्होंने उसे सन्यास की पूर्व तैयारी के लिये ब्रह्मचारी के रूप में स्वीकार कर लिया।

मध्यगेह भट्ट पुत्र की लगातार अनुपस्थिति से शंकाकुल होकर उससे मिलने के लिये उडुपि पहुँचे। अच्युत प्रेक्षाचार्य की सन्निधि में पुत्र को देखा। तब उन्हें पता लगा कि पुत्र सन्यास लेने के विचार में है। यह सुनकर उनके पितृ-हृदय को ऐसा धक्का लगा कि मानो पांव के नीचे से ज़मीन खिसक गई। वे उसे समझाने बुझाने और कातर होकर गिड़-गिड़ाने लगे कि सन्यास लेने का विचार छोड़ दे। पर वासुदेव के अटल निर्धार के सामने सब व्यर्थ हुआ। निराश पिता ने अपना बौद्धिक सन्तुलन ही खो दिया और पुत्र के पाँवों में पड़कर प्रार्थना करने लगे कि वह सन्यास न ले। कुछ करने गये थे और ही कुछ कर गये। पिता का पुत्र के पांव लगना अमंगल या अपशकुन सूचक है। वासुदेवने दृढ़ और शान्त स्वर में कहा कि एक पुरुष का अपने से कम अवस्थावाले का पांव लगना–खास कर पिता का पुत्र के पांव लगना तभी उचित माना जायेगा जब कि वह कम अवस्थावाला या पुत्र सन्यासी हो। मेरे आगे आपके इस प्रकार स्वेच्छाकृत साष्टांग प्रणाम में मुझे कोई ईश्वरीय संकेत दिखाई देता है, लगता है कि मेरा निर्धार उचित ही है। मानों यह एक भविष्यवाणी है।

मध्यगेह पुत्र की बातें सुनकर निरुत्तर हो गये। घर लौटकर सारी घटना पत्नी को कह सुनायी। दोनों ने अनुभव किया कि यह एक ऐसी क्षति है जिसकी पूर्ति कभी नहीं हो सकती। फिर भी कुछ समय तक सब कुछ सह कर घटना की गति विधि को देखने का प्रयत्न किया। पुत्र के विचार में कोई परिवर्तन न हुआ तो फिर एक बार पुत्र को समझाने के विचार से चल पडे। उस समय वासुदेव अपने गुरु के साथ मंगलूर से दक्षिण नेत्रावती के पार कयूर गाँव में भ्रमण कर रहे थे। समाचार

पाकर मध्यगेह भट्ट वहाँ पहुँचे। उस गाँव के कुत्याडि-मठ में पुत्र से मिले, अशान्त और दुःखी पिता और दृढ निर्धार वाले पुत्र में वाद-विवाद हुआ। पुत्र के हठ पर पिता इतना क्रुद्ध हुए कि आत्म-हत्या कर लेने की धमकी दी। वासुदेव ने अविचल भाव से अपना वस्त्र फाड़ा, एक टुकुड़ा लेकर सन्यासी की भान्ति कौपीन धारण किया और पिता को चुनौती दी कि मैंने सन्यास ले लिया, आप अपनी बात (आत्म-हत्या) कर दिखायें, प्रकृति भी मानों सांस रोककर यह सब देख रही थी। कुछ क्षण निस्तब्धता रही। दोनों ओर का उद्वेग कुछ ठंडा पड गया तो वासुदेव ने पिता से विनय पूर्वक प्रार्थना की कि आप मेरे इस महान तथा श्लाघनीय निर्धार में बाधा न डालें, फिर पिता की दीन दशा पर विचार करके वचन दिया कि जब तक एक अनुज न जन्मेगा तब तक मैं सन्यास न लूँगा। पिता ने विवश होकर कहा कि अगर वासुदेव की माता मान ले तो उनको भी कोई आपत्ति न होगी।

कुछ समय बाद मध्यगेह भट्ट की पत्नी ने एक पुत्र को जन्म दिया। खबर पाते ही वासुदेव अपने घर को दौडे। सन्यास लेने के लिये माता की अनुमति माँगी, पुत्र के सुख शान्ति में ही अपना सुख शान्ति देखनेवाली माता ने यह सोचकर अनुमति दी कि पुत्र कहीं भी रहे प्रसन्न और यशस्वी रहे।

माता-पिता की चरणधूलि सिर पर लगाकर अनुमति और शुभाशीर्वाद के साथ वासुदेव सीधे गुरु के पास पहुँचे और प्रार्थना की कि अब सन्यास दीक्षा दे दें।

गुरु ने सहर्ष मान लिया। शुभ दिन निश्चित किया गया। उस दिन अनंतेश्वर मंदिर अलंकृत किया गया, सैकडों लोग मंदिर में एकत्रित हुए। शुभ मुहूर्त में मुंडित केशी गैरिव्य-वस्त्र धारी, तेजोदीप्त वासुदेन ने बाल सन्यासी के रूप में हाथों में दण्ड कमण्डल लिए मन्दिर की प्रदक्षिणा की, तब गर्भगृह में प्रवेश करके अनन्तेश्वर के आगे साष्टांग प्रणिपात किया

तो सहस्रों प्रेक्षकों के हृदय किसी आवर्णनीय अनुभूति से भर आए, नयन अश्रुपूर्ण हो गये। श्री अच्युत प्रेक्षाचार्य ने उन्हें विधिवत सन्यास दीक्षा दी, पदतल में प्रणीत वासुदेव के सिर पर वरद हस्त रखकर आशीर्वाद देते हुए उनको 'पूर्णप्रज्ञ' नाम से अंकित किया। लोगों ने यह दृश्य देखकर अपने नयनों को सफल समझा। उडुपि के इतिहास के इस महान युगान्तरकारी अवसर को एक मंगलमय सुवर्णावसर अनुभव किया।

अच्युत प्रेक्षाचार्य चाहते थे कि उनका असाधारण प्रियशिष्य पूर्णप्रज्ञ अद्वैत सिद्धान्त का पारंगत होकर उसे दिग्दिगन्त तक फैलाये। अत: उन्हें चुने हुए अद्वैत सिद्धान्त के ग्रन्थों को पढ़ाने का विचार किया, अध्ययन के लिए पहले 'इष्टसिद्धि' नामक ग्रन्थ चुना गया, पूर्णप्रज्ञ ने आदि से अन्त तक इस ग्रन्थ को दत्तावधान होकर सुना, तब विनयपूर्वक उस ग्रन्थ के बत्तीस दोषों को दर्शाते हुए कहा कि ऐसी भूलों से भरे ग्रन्थ पर समय व्यर्थ करना निरर्थक है।

इस घटना के बाद गुरु शिष्य में ऐसी मानसिक तनाव पैदा हो गई, अध्ययन के पग पग पर ऐसे आक्षेप और आपत्ति पैदा होती गई कि गुरु उनका समाधान नहीं कर पाये; अत: अध्ययन रुक सा गया। पर मठ के अन्य कार्यों में पूर्णप्रज्ञ गुरु को पूर्ण सहयोग देते रहे, गुरु सेवा, पूजा, ध्यान से प्राप्त अवकाश को श्रीमद्भागवत के अध्ययन में लगाते थे, वे पाँच छः भिन्न-भिन्न प्रतियों को लेकर बैठते, सावधानी से उनके पाठान्तरों की तुलना करते, दोषों और अशुद्धियों को सुधार कर आवश्यक आधारों के साथ प्रमाणित कर दिखाते कि उनका सुधारित पाठ ही ग्रन्थकर्ता का सम्मत पाठ है। ऐसा लगता था कि इन निर्णयों में पूर्णप्रज्ञ का प्रातिभज्ञान या जन्मान्तर का संस्कार उनको पथ प्रदर्शित करता था। इन निर्णयों पर उनके प्रतिपक्षी पर्याप्त तर्क वितर्क करते थे। जब मध्वाचार्य

(पूर्णप्रज्ञ) अपने प्रबल प्रमाणों से उनका समाधान करते थे तभी प्रतिपक्षी उन्हें मान लेते थे। इन में इस तरुण सन्यासी के वेद-वेदांग, पुराण इतिहास आदि के इस अपार ज्ञान पर चकित होकर सोचते कि इतनी अल्पावस्था में इतना अध्ययन इसने कब किया ?

मध्वाचार्य जैसे जैसे गीता. उपनिषदों की गहराई में जाते थे वैसे-वैसे उनकी अद्वैत परक व्याख्या उन्हें असंगत लगती गई। प्रति दिन अपने नवीन विचारों, व्याख्याओं और सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते जा रहे थे। उनके श्रोताओं की संख्या बढ़ती जा रही थी। प्रति दिन कुछ नये अंशों की व्याख्या होती थी, पुराने सिद्धान्तों को चुनौती दी जाती थी। किसी पुरानी समस्या पर नया प्रकाश डाला जाता था। उनके साथ बिताये जानेवाले प्रत्येक क्षण प्रकाशमय होते थे। श्रोताओं का अन्तस्तल नूतन प्रकाश से दीपित हो उठता था। अतः प्रतिदिन अधिक से श्रोता उनका प्रवचन सुनने के लिये उत्सुकता से एकत्रित होते थे। इन प्रवचनों के द्वारा मध्वाचार्य की जो प्रतिभा और प्रभाव प्रकट होता जाता था उसे देख देख कर गुरु अच्युत प्रेक्षाचार्य मन ही मन इस उदीयमान सूर्य के मध्याह्न की प्रभा की प्रखरता की कल्पना कर पुलकित हो रहे थे। अपने परम्परागत अद्वैत परक विचारों में स्वयं अटल रहते हुये भी इस असाधारण शिष्य के नवीन विचारों का स्वागत करते थे और उन्हें अपने ही पथ पर आगे बढ़ने में बढ़ावा देते थे। उन्होंने निश्चय किया कि मध्वाचार्य को अपनी गद्दी का उत्तराधिकारी अभिषिक्त कर मठ को उनके सशक्त हाथों में सौंप दें। इसके लिये दिन भी निश्चित किया गया। उस दिन शुभमुहूर्त में प्रथानुसार अनुष्ठानों को पूर्ण करके गुरुने मध्वाचार्य पर शंख जल का प्रेक्षण किया, फिर उन्हें शुभाशीष के साथ 'आनन्दतीर्थ' नामक नये अभिधान से अलंकृत किया और मठ का उत्तराधिकारी घोषित किया।

दक्षिण कन्नड़ बौद्ध, जैन, शैव, अद्वैत, शाक्त, 'भूताराधना' जैसे अनेक मत सम्प्रदायों का संगम स्थल रहा है। शंकराचार्य जी के प्रभाव से बौद्ध सम्प्रदाय का नामावशेष हो गया था, जैन प्रभाव भी क्षीण दशा में था। फिर भी इन सम्प्रदायों के बड़े-बड़े पंडित थे, बारहवीं शताब्दी में जिस वीरशैव मत ने सिर उठाया था उसके प्राबल्य से लगता है मानों वर्णाश्रम धर्म की आधार शिला पर स्थित सनातन वैदिक मत जड़ से ही लड़खड़ा गया। सर्व समानता की घोषणा करनेवाले इस नवीन मत की ओर आकर्षित होकर झुंड के झुंड वैदिक मतानुयायी इसके झंडे के नीचे एकत्रित होने लगे थे। वैदिक अद्वैत मत ने शायद इसे रोकने की ओर ध्यान नहीं दिया था। सम्भवतः वे "अहं ब्रह्मास्मि" तथा "ब्रह्म सत्यं-जगन्मिथ्या" का मनमाना विपरीतार्थ लगाकर जड़ता की स्थिति को पहुँचे थे। सिद्धान्त में और व्यवहार में सामरस्य न रखकर असंगत तर्क वितर्क और शास्त्रार्थों की कलाबाजी में ही वे लगे हुये थे। शायद युगदर्शी विचारशील तरुण सन्यासी मध्वाचार्य जी का ध्यान सनातन धर्म की रक्षा के लिये एक नवीन सिद्धान्त को स्थापित करने की ओर गया।

मठ के उत्तराधिकारी बनने के बाद मध्वाचार्य अपने विचारों को सुव्यवस्थित रूप देने की ओर, उन्हें सुदृढ़ नयी आधार शिला पर स्थापित करने की ओर धीरे-धीरे प्रवृत्त हुये। उनकी ख्याति दूर दूर तक फैलने लगी। दूर दूर से जैन, शैव और अद्वैत मत के तार्किक पंडित उनकी ख्याति से खिंचकर शास्त्रार्थ करने के लिये आने और पराजित होकर या तो उनके अनुयायी बनने या चुपके से पलायन करने लगे। पुरानी मान्यताओं की नींव के पत्थर हिलने लगे। मध्वाचार्य जिस वातावरण में साँस ले रहे थे उसमें लोगों ने एक नव चैतन्य का, स्पंदन का अनुभव किया। मध्वाचार्य उन्हें एक नवीन शक्ति के स्रोत के रूप में

दिखाई पड़े। प्रवचनों शास्त्रार्थों और चर्चाओं के द्वारा मध्वाचार्य के नये संदेश के दिव्य भवन के लिये शिलान्यास हो गया। आवश्यक सामग्रियाँ एकत्रित हो गयीं। समय का संकेत समझ कर मध्वाचार्य शांकर मत के दुर्बल पहलुओं पर प्रहार पर प्रहार कर अपनी शक्ति सामर्थ्य को निर्दिष्ट करने लगे। वैदिक संप्रदाय के अन्दर जो कोई अपना नवीन पंथ बनाना चाहता है उसे प्रस्थानत्रय अर्थात् ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् और गीता का अपना नवीन भाष्य उपस्थित करना पड़ता है। मध्वाचार्य शांकर भाष्य का खण्डन तो कर रहे थे पर अभी अपना नया भाष्य उपस्थित नहीं किया था। अच्युत प्रेक्षाचार्य ने नये भाष्य लिखने की चुनौती दी। मध्वाचार्य ने इसे स्वीकार कर लिया।

इस बीच वे भारत के विभिन्न क्षेत्रों में तीर्थाटन कर आने का निश्चय कर अपने गुरु के साथ निकल पडे। पहले दक्षिण भारत की यात्रा की। केरल के विभिन्न क्षेत्रों का सन्दर्शन कर तिरुवन्तपुरम् पहुँचे। वहाँ से कन्याकुमारी और रामेश्वरम् पहुँचे। रामेश्वरम् में चातुर्मास्य व्रत समापन कर वापसी यात्रा करते हुए दक्षिण-भारत के तत्कालीन महान पंडितों से मिले, दर्शन सम्बन्धी अपनी नवीन उपलब्धियों को उनमें बाँटा। लौटते समय चन्द्रगिरि नदी तट पर के एक मन्दिर में ऐतरेयोपनिषद पर अत्यन्त रोचक भाषण देते हुये मध्व ने श्रोताओं को एक दिलचस्प बात यह बतायी कि हर वैदिक सूक्त के तीन तीन अर्थ होते हैं, महाभारत के प्रत्येक श्लोक के दस दस अर्थ होते हैं और विष्णु सहस्र नाम के प्रत्येक शब्द के सौ सौ अर्थ होते हैं। श्रोताओं ने आचार्य जी को बीच में ही रोककर ललकारा कि वे सहस्र नाम के एकाध शब्ध के सौ सौ अर्थ बताकर अपने कथन को प्रमाणित कर दिखायें आचार्य जी ने पहले पहल विवेचन के लिये 'विश्व' शब्द को लेकर श्रोताओं से कहा कि दत्तावधान होकर सुनें। फिर वे विश्व शब्द की व्युत्पत्ति को व्याकरण शास्त्र के अनुसार समझाने लगे तो

व्याकरण की जटिल उलझनों में फंसी श्रोताओं की बुद्धि लड़खड़ाने लगी और धारण शक्ति चकराने लगी तो पंडितों ने उसे ग्रहण करने में अपनी असमर्थता प्रकट कर क्षमा मांगी। तब मध्वाचार्य ने उसका विवेचन बन्द किया।

लगभग सात वर्षों तक उन्होंने दक्षिण-भारत की यात्रा की। उनके अनुयायी अनुरोध कर रहे थे और प्रतिरोधी चुनौती दे रहे थे कि हो सके तो वे प्रस्थान त्रय की अपनी व्याख्या या भाष्य प्रस्तुत करें, अपने नवीन दृष्टिकोण को प्रतिष्ठित करें। मध्वाचार्य स्वयं ही इस दिशा में संकल्प कर चुके थे। पहले उन्होंने भगवद्गीता को चुना। उनके मन्तव्य के अनुसार श्री शंकराचार्य और रामानुजाचार्य दोनों इसके मूल तत्त्व का उद्घाटन करने में चूक गये हैं। अतः श्री कृष्ण के इस अमर-संदेश के वास्तविक अर्थात् स्वयं ग्रंथकर्ता के सम्मत अन्तरार्थ को प्रकट करते हुए गीता की नयी व्याख्या उपस्थित की। इसके बाद ब्रह्मसूत्र का भाष्य लिखना प्रारम्भ किया।

इसी समय उनके हृदय में हिमालय की यात्रा कर आने की अदम्य इच्छा पैदा हुई। वे हिमालय के उत्तुंग शिखर में विद्यमान बद्रिकाश्रम में जाकर भगवान बादरायण का साक्षात्कार करना चाहते थे। यातायात की किसी सुविधा रहित उस युग में उडुपि से बद्रीनाथ तक की यात्रा करना कैसा साहसिक कार्य है इसका अनुमान सहज ही कर सकते हैं। परन्तु दृढ संकल्प और अदम्य इच्छा शक्ति को असाध्य क्या है? इस महान यात्रा के लिये अपने को पूर्णरूप से सन्नद्ध करने और आत्मिक शक्ति को जगाने के लिये उपवास और प्रार्थना करने लगे। इष्टसिद्धि के लिये अपने को पवित्रतम बनाने और अन्तर को व्यास भाव से भरने लगे। कहते हैं कि इस यात्रा की आखिरी मंजिल पर प्रस्थान करने के पहले आचार्य जी अड़तालीस दिन तक 'काष्टमौन' व्रत धारण करके ध्यान मग्न

हो गये। तदुपरान्त एक उषःकाल में उन्होंने अपनी यात्रा अकेले जारी करते हुये अपने शिष्यों को निम्न बदरी में ही रोककर कुछ सन्देश लिख देना चाहा। क्योंकि आगे की यात्रा लम्बी, कष्टसाध्य, और अपायकर थी। नश्वर मानव उसकी कल्पना भी नहीं कर सकता था। उन्होंने लिखा—'यह स्थान पवित्र है, विष्णु सर्वोत्तम है, मेरे वचन सबके श्रेय के लिये हैं। मैं भगवान बादरायण के प्रति अपना गौरव निवेदन करने जा रहा हूँ। कह नहीं सकता कि लौटकर आऊँगा कि नहीं। भगवान आपका मंगल करें।'

यह एक महान आध्यात्मिक साधना थी। भगवान बादरायण भारतीय अध्यात्म के अत्युन्नत शिखर हैं। मध्वाचार्य अपनी आत्म शक्ति से उस अत्युन्नत शिखर तक पहुंच कर, बादरायण का साक्षात्कार करके उनसे इष्ट सिद्धि प्राप्त की। अपने सूत्र भाष्य पर उनकी सम्मति और आशीर्वाद प्राप्त किये।

लौटती यात्रा में वे अनेक भाट्ट, प्रभाकर, नैयायिक, वैशेषिक, बौद्ध तथा चार्वाक मत के पंडितों से मिलकर शास्त्रार्थ में उन्हें पराजित करके अपने संप्रदाय में परिवर्तित कर लिया। इनमें गोदावरी में उनके मत ग्रहण करनेवाले दो धुरंधर विद्वानों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। वे हैं शोभन भट्ट और श्यामशास्त्री। शोभन भट्ट बाद में पद्मनाभ तीर्थ नाम से प्रसिद्ध हुए। श्यामशास्त्री जो कलिंग-राज्य के एक बड़े अधिकारी थे, बाद में नरहरि तीर्थ नाम से प्रसिद्ध हुए। ये मध्व सिद्धान्त के आधार स्तंभ और मध्वाचार्य जी के उत्तराधिकारी बने।

उडुपि वापस आने के बाद नये भाष्य को लेकर गुरु अच्युत प्रेक्षा-चार्य और शिष्य मध्वाचार्य में पर्याप्त चर्चा हुई। अच्युत प्रेक्षाचार्य की आस्था अद्वैत सिद्धान्त के प्रति अब भी अटल थी। अन्ततोगत्वा गुरु को

शिष्य के अकाटच तर्कों के सामने शस्त्र डाल देना पडा। जिस गुरु से मध्वाचार्य ने सन्यास दीक्षा ली थी उसी को अपने नवीन मत में परिवर्तित कर लिया। गुरु ने प्रसन्नता से नवीन मत स्वीकार कर लिया। मध्व उनके प्रिय शिष्य थे। अतः गुरु ने अपनी पराजय को सब से बड़ी विजय मानी। "सर्वत्र जयमेवेच्छेत् शिष्यादिच्छेत् पराजयम्।" उडुपि के अनंतेश्वर मंदिर में जिस स्थान पर आसीन होकर मध्वाचार्य प्रवचन किया करते थे और अन्य विद्वानों को अपने मत में दीक्षित कर लेते थे वह स्थान आज भी सुरक्षित है।

एक दिन बड़े तड़के मध्वाचार्य उडुपि से तीन मील दूर समुद्र में स्नान करने गये। स्नान और संध्या के बाद स्तोत्र करते करते उनका मन श्रीकृष्ण में तल्लीन हो गया। वे समाधिस्थ से हो गये। मुख से अपने आप स्तोत्र पर स्तोत्र निकलते गये। ये श्लोक आज भी 'द्वादश स्तोत्र' नाम से प्रसिद्ध हैं। इसी दशा में उनको लगा कि भगवान कृष्ण भक्तों की सुविधा के लिये उडुपि को आ रहे हैं। समुद्र तट पर कुछ समय तक ध्यानमग्न रहने के उपरान्त उन्होंने आँखें खोलीं तो सामने कुछ दूरी पर समुद्र में संकटग्रस्त एक पोत को देखा। पोत पथभ्रस्ट होकर समुद्र तल के रेत में धँस गया था, उसे हटाने के लिये किये गये नाविकों के सारे प्रयत्न असफल हो गये। कहते हैं कि मध्वाचार्य जी ने परिस्थिति को पहचान कर अपना करवस्त्र उठाया और पोत को देखकर करवस्त्र को हिलाया। पोत धीरे धीरे हिलने लगा और अपने स्थान से खिसक कर समुद्र में तैरने लगा। पोतपति प्रसन्नता से नाच उठे। वह एक व्यापारिक पोत था। पोतपति मध्वाचार्य जी के पास आया। उन्हें साष्टांग प्रणाम कर अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हुए प्रार्थना की कि वे अपनी इस कृपा के बदले कोई भेंट स्वीकार करें।

लोगों ने देखा कि मध्वाचार्य ने स्वर्ण रत्नादिक नहीं माँगे। उन्होंने कहा—'तुम्हारे पोत में गोपीचंदन के बहुत से ढोंके हैं। उनमें से कुछ ढोंके मुझे दे दो। व्यापारी ने बड़ी प्रसन्नता से मान लिया। तुरंत कई

बड़े बड़े गोपी चंदन के ढोंके मँगवाकर उनको प्रदान किये। उनमें एक ढोंका बहुत बड़ा और भारी था। मध्वाचार्य ने अपने अनुयायियों को आदेश दिया कि उस बड़े ढोंके को बड़ी सावधानी के साथ उठा लायें। जब लोग सावधानी से उसे उठा लाने लगे तो मध्वाचार्य तन्मय होकर स्तोत्र पाठ करने लगे। मठ के निकट आते आते उन्होंने स्वयं उसे उठा लिया। मठ को पहुँचकर बड़ी सावधानी से उस ढोंके को तोड़ा। लोगों ने विस्मय के साथ देखा कि उसके भीतर से एक प्रस्तर मूर्ति निकली। बड़ी श्रद्धा से उसका प्रक्षालन किया गया। वह मंथनकाष्टधारी बालकृष्ण की एक अति रमणीय प्रस्तर प्रतिमा थी। कहा जाता है कि यह प्रतिमा द्वारका से आयी थी। तुरंत इसके लिए एक मंदिर बनवाने की व्यवस्था की। अनंतेश्वर और चंद्रेश्वर मंदिर के उत्तरी आंगन के पार्श्व में ही एक सादा सा पवित्र मंदिर बन कर तैयार हुआ। शुभ दिन में स्वयं मध्वाचार्य ने अपने हाथों उस मंदिर में बालकृष्ण की वह अनुपम प्रतिमा प्रतिष्ठित की। नियमित रूप से उसकी पूजा और उत्सव चलाने की व्यवस्था की।

उडुपि में एक प्रतिष्ठित व्यक्ति ने जो मध्वाचार्य के सहपाठी भी थे उनके छोटे भाई के होत्रीत्व में एक बहुत बड़ा यज्ञ कराने का संकल्प किया था। जब सब सामग्रियाँ इकट्ठी हो गई तब 'मरडित्ताय' नामक एक प्रबल व्यक्ति ने इसमें बड़ी बाधा डाली। बात बहुत बढ़ गयी तो सहपाठी ने मध्वाचार्य की मदद माँगी। तत्कालीन सरकार गांवों के ऐसे विषयों में कुछ भी कर नहीं पाती थी। परंतु उस समय गाँवों में ग्राम-पंचायतें बहुत शक्तिशाली थीं और ऐसे मामलों को बडी सूझबूझ के साथ हल करती थीं। मध्वाचार्य ने ग्राम पंचायत की सहायता से यज्ञ को निर्विघ्न रूप से संपन्न कराया।

बौद्ध और जैन धर्म के प्रभाव से वैदिक संप्रदाय के यज्ञों में होनेवाली पशुबलि की प्रथा बहुत कुछ घट गयी थी। फिर भी वह बिलकुल बंद

नहीं हुई थी। समय समय पर इधर उधर अजमेध जैसे यज्ञ हुआ करते थे। मध्वाचार्य जी ने इस प्रथा को पूर्णतया बंद कराने का निश्चय किया। उन्होंने इसके विरुद्ध शक्तिशाली आवाज़ उठाते हुए कहा कि कलियुग में ऐसे हिंसात्मक यज्ञ अनुचित हैं। उन्होंने जीवित पशु के स्थान पर 'पिष्ट पशु' (आटे से बनाये गये पशु) को लेकर यज्ञ करने का सुझाव दिया। उनके प्रभाव से कम से कम मध्व मतानुयायियों में हिंसात्मक यज्ञ पूर्णतया बंद हो गया। उसके स्थान पर 'पिष्ट पशु' का यज्ञ प्रचलित हुआ।

मध्वाचार्य अब लम्बे समय तक उडुपि में ही रहकर अपने नूतन सिद्धान्त को जिसे द्वैत सिद्धान्त कहते थे व्यवस्थित, सुदृढ़, दार्शनिक रूप देने के कार्य में लगे रहे। उनके सूत्र भाष्य का चारों ओर स्वागत किया गया। उनकी इच्छा फिर एक बार बद्रिकाश्रम की यात्रा करने और उत्तर भारत के विभिन्न क्षेत्रों के दर्शन करने की हुई। इस बार अनेक शिष्यों के अतिरिक्त लगभग पचास सहायकों को भी साथ लेकर निकल पडे। उत्तर कर्नाटक होते हुए महाराष्ट्र में पहुँचे। महाराष्ट्र में तत्कालीन महादेव नामक कोई राजा बहुत बड़ा जलाशय बनवा रहा था। लोगों से बलात् बेगारी करायी जाती थी। कोई भी सुस्त या बेकार आदमी मिलता तो उसे राजा के कर्मचारी घर पकड़ ले जाते और उस जलाशय के काम में लगा देते थे। जब मध्वाचार्य जी की टोली उधर से गुजरती दिखाई पड़ी तो उनसे भी जलाशय खोदने का काम करने को कहा गया। इससे मध्वाचार्य के प्रयाण में बड़ी बाधा पड़ी। वे मोह मन्त्र का प्रयोग कर इस मुसीबत से बच निकलने का निश्चय कर धैर्य के साथ उस राजा से मिले। उन्होंने राजा की आँख से आँख मिलाकर कहा कि उन्हें और उनके अनुयायियों को बेगारी करने में कोई आपत्ति नहीं। मगर वे ऐसे श्रम से अनभिज्ञ हैं। अगर राजा स्वयं कार्य करके आदर्श उपस्थित करें तो वे भी शौक से करेंगे। राजा उनकी बातों में आकर खुद्दाल लेकर मिट्टी खोदने लगा। जब वह अन्य श्रमिकों के साथ मिलकर अपने आपको भूलकर मिट्टी खोदता जा रहा था तब मध्व उसे देख कर मुस्कुरा पडे और

अपने अनुयायियों के साथ आगे चले गये। मार्ग की कई कठिनायों और खतरों का सामना करते हुए गंगा तट पर पहुँचे। उन दिनों गंगा के उस पार का राज्य जलालुद्दीन खिलजी के शासन के अन्तर्गत था। वह सत्तर साल का वृद्ध था। वह शान्तिप्रिय, विद्या और कला प्रेमी था। पर बाहरी देश के आगन्तुकों को अविश्वास की दृष्टि से देखता था। अतः सीमा पर कडा प्रतिबंध था।

मध्वाचार्य और उनके साथियों को गंगा पार जाने के लिये कोई नाव या अन्य सहारा नहीं मिला। पर उनका उत्साह और साहस गंगा के प्रवाह के समान ही अदम्य था। वे अपने साथियों को लेकर गंगा में उतर पडे और अनायास उसे पार किया। पर जलालुद्दीन के राज्य में पैर रखते ही पहरे में तैनात सैनिकों ने उन्हें रोक कर धमकी दी कि राजाज्ञा के उल्लंघन के अपराध में वे सब के सब कैद किये जायेंगे और मौत के घाट उतार दिये जायेंगे। आचार्य जी ने बड़ी निर्भीकता के साथ उनको समझाया कि वे कोई जासूस नहीं। वे बादशाह से भेंट कर बातें करना चाहते हैं। सैनिक उनसे प्रभावित होकर मान गये और ले जाकर उन्हें बादशाह के सामने पेश किया। बादशाह को ताज्जुब हुआ कि वे कैसे गंगा पार कर आये; कैसे सैनिकों के हाथों से बच गये।

उस समय मध्वाचार्य ने मीठी फ़ारसी में उससे जो बातें कीं उससे बादशाह और ताज्जुब में पड़ गया, उसकी सहृदयता जागृत हुई। परस्पर अविश्वास में बातें शुरू हुई थीं; पूर्ण विश्वास में समाप्त हुई। बादशाहने मध्वाचार्य के व्यक्तित्व और विद्वत्ता से प्रभावित होकर उन्हें एक जागीर दी। पर आचार्य ने उसे विनय के साथ उसी को लौटा दिया। सैनिक उन्हें दंड दिलाने के लिये बादशाह के पास ले गये थे पर बादशाह से पुरस्कृत होकर सम्मानित अतिथि के रूप में बिदा हुए।

आगे की यात्रा पूरी कर बद्रीनाथ पहुँचे। बादरी वृक्ष के नीचे बादरायण की उपासना कर उनके दर्शन पाये। उनकी आत्मा अमितानंद से भर गई। यहीं पर इन्हें आठ बड़े-बड़े अमूल्य सालग्राम प्राप्त हुए। कहा जाता है कि स्वयं व्यास महर्षि ने इन्हें उनको प्रदान किया था। उनके रचे महान् ग्रंथों में 'महाभारत तात्पर्य निर्णय' नामक ग्रंथ इसी महान यात्रा का स्मारक बना हुआ है।

बद्रीनाथ से लौटते समय मध्वचार्य अपने अनुयायियों सहित हस्तिनापुर कुरुक्षेत्र वाराणसी, हृषीकेश, आदि तीर्थों में गये। इन भिन्न भिन्न क्षेत्रों में अनेक विद्वज्जनों से मिले, अनेक पंडितों को शास्त्रार्थ में पराजित किया। उत्तर भारत की यात्रा समाप्त कर गोवा पहुँचे। वहाँ भी अपने बौद्धिक और आध्यात्मिक चमत्कारों से लोगों को चकित कर वशीभूत कर लिया। शायद इस अवसर पर वहाँ के गौडसारस्वत समुदाय ने माध्वमत स्वीकार कर लिया। इस प्रकार सर्वत्र अपनी विजय दुंदुभी बजाते हुए मध्माचार्य वापस उडुपि आ पहुँचे तो लोगों ने उनका हार्दिक स्वागत किया।

उनके तर्क से हार कर जिन पंडितों ने माध्व मत स्वीकार किया उनमें पंडित त्रिविक्रमाचार्य जी का नाम चिरस्मरणीय है। त्रिविक्रमाचर्य के माध्वमतानुयायी बनने की घटना मंगलूर के दक्षिण में विद्यमान कुंबळ राजा जयसिंह के राज्य में घटी। उडुपि में मध्वाचार्य जी का पुस्तकालय अनेक अनमोल प्राचीन ग्रंथों से भरा था। इनमें स्वयं आचार्य जी के लिखे अनेक ग्रंथ भी थे। कहा जाता है कि एक बार शृंगेरि की तरफ़ से कुछ पंडित मध्वाचार्य से तर्क करने आये। उनको हरा न पाये तो रातों रात पलायन कर गये। पद्मतीर्थ नामक एक पंडित जो इनके नवीन मत से जलता था यह सोचकर कि इनके नवीन मत के आधारभूत ग्रंथों को ही न रहने दें तो फिर नवीन मत क्या रहेगा–न रहे बाँस न बजे बाँसुरी-वह मध्वाचार्य के ग्रंथ भंडार को उड़ा कर भाग गया। आचार्य जी को जब इसका पता चला तो तुरंत उसका पीछा करते चले।

कुंबळ राजा जयसिंह को यह खबर मिली। उसने पद्मतीर्थ का पता लगवाकर पुस्तकें हस्तगत कर लीं और मध्वाचार्य को अपने प्रासाद में निमन्त्रित करके उन्हें वे पुस्तकें सौंपीं। मध्वाचार्य वहाँ से मधूर विष्णु-मंगलम् होते हुए कुडिलु पहुँचे। वहाँ के प्रसिद्ध मंदिर में रह कर पंडितों को अपना सूत्र भाष्य समझाते रहे। त्रिविक्रम पंडित जो कई दिनों से आचार्य जी से झूझने के लिये अवसर की प्रतीक्षा कर रहे थे उपास्थित होकर उन से शास्त्रार्थ में भिड़ पडे। कहते हैं कि पन्द्रह दिन तक लगातार तीव्र वाग्वाद चला। अंत में त्रिविक्रम पंडित ने हार मानकर द्वैत संप्रदाय को स्वीकार किया। यह सच्ची विद्वत्ता का एक उज्ज्वल नमूना है। जब तक तर्क संगत रीति से त्रिविक्रमाचार्य के मन को नवीन मत ग्राह्य न हुआ तब तक उसका डटकर विरोध किया। जब मनने मान लिया तो सारे विरोध को भूल कर उसके अनुयायी बने। उनके प्रकाण्ड पांडित्य के प्रति आचार्य जी को भी बडा आदर था। अतएव आचार्य जीने अपने सूत्र भाष्य की व्याख्या लिखने का भार सौंपकर उन्हें गौरवान्वित किया। वस्तुतः यह एक गुरुतर भार था। क्योंकि आचार्य जी के सूत्र भाष्य के संबन्ध में उचित ही कहा गया है कि "बाल संघमपि बोधयद्भृशं दुर्निरूप वचनं च पंडितैः"(यह भाष्य बालकों के लिये भी सुलभ बोध्य साथ ही पंडितों के लिये भी दुर्बोध्य है)परन्तु त्रिविक्रम पंडित ने सहर्ष इस भार को वहन किया और शीघ्र 'तत्त्व प्रदीपिका' नामक प्रामाणिक व्याख्या प्रस्तुत कर द्वैत सम्प्रदाय का उज्ज्वल ज्योतिस्तंभ बने, इन्हीं के पुत्र नारायण पंडित ने मध्वाचार्य जी की जीवनी को लेकर "मध्व विजय" नामक बड़ा अनमोल प्रबंध काव्य लिखा।

मध्वाचार्य जी ने स्वयं परमत का खंडन और अपने द्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन और निरूपण करने वाले सैंतीस ग्रंथ लिखे हैं। जैसे— गीता भाष्य, गीता तात्पर्य, ब्रह्मसूत्र भाष्य, दशोपनिषदों की व्याख्या, अणुव्याख्यान, अनुभाष्य, न्याय विवरण, भागवत तात्पर्य, महाभारत तात्पर्य निर्णय, प्रमाण लक्षण, उपाधि खण्डन, मायावाद खंडन, प्रपंचमिथ्यात्वानुमान

खंडन, तत्त्व विवेक, विष्णुतत्व निर्णय, ऋग्वेद व्याख्या, तंत्रसार, सदाचार स्मृति आदि। इन सब से प्रतिपादित द्वैत वेदान्त का सार यों है — तत्त्व के दो भेद हैं —(१) स्वतंत्र तत्त्व (२) अस्वतंत्र तत्त्व। हरि (विष्णु) ही एक मात्र स्वतंत्र तत्त्व है।

अस्वतंत्र तत्त्व के दो भेद हैं — भाव और अभाव (प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, सदाभाव) भाव के चेतन तथा अचेतन नामक दो भेद हैं, चेतन के भी दो भेद हैं — दुःख स्पृष्ट चेतन और दुःखास्पृष्ट चेतन। केवल लक्ष्मी हीं दुःखास्पृष्ट चेतन है, इतर समस्त जीव दुःखस्पृष्ट चेतन हैं।

जीवों के दो भेद हैं — विमुक्त और दुःख संस्थ,. दुःख संस्थ जीवों के दो वर्ग हैं — मुक्तियोग्य जीव और मुक्त्ययोग्य जीव। विमुक्त और मुक्ति योग्य जीव पंच विध हैं — देवगण, ऋषिगण, पितर, पा अर्थात् विशिष्ट गुण प्रभाव युक्त भूप और नर, मुक्त्ययोग्य जीव वर्ग के अंतर्गत, दैत्य, पिशाच, राक्षस, और नराधम आते हैं जिन में कुछ अक्षम्य पापाचरण के कारण अनंतकाल तक नरकवास करने वाले हैं तो कुछ वर्तमान में पापाचरण करते हुए भविष्य में नरक में पतित होने वाले हैं।

अचेतनों के तीन भेद हैं — नित्य, नित्यानित्य, और अनित्य, वेद, वर्ण, अव्याकृत आकाश ये तीन नित्य अचेतन हैं पुराण, काल, और प्रकृति नित्यानित्य अचेतन हैं, संसृष्ट और असंसृष्ट ये दो अनित्याचेतन हैं, समस्त ब्रह्मांड संसृष्ट है, चतुर्विंशति तत्त्व (महत्तत्त्व, अहंकार, बुद्धि, मन, पंच ज्ञानेंद्रिय, पंच कर्मेंद्रिय, पंच तन्मात्र, (पंच महाभूत) असंसृष्ट है।

इस प्रकार इस समस्त अचित्य रचना रूपात्मक जगत के जन्म, स्थिति और लय के कर्ता परब्रह्म विष्णु ही हैं, उसको केवल समस्त आन्मायों के द्वारा ही जाना जा सकता है। वह सकल दोष विवर्जित और सकल कल्याण गुण परिपूर्ण है। सृष्टि, स्थिति, संहार, नियमन, अज्ञान, बोधन, बंध, मोक्ष, सुख, दुःख, आवृति, ज्योति ये सब विष्णु के

ही अधीन हैं । स्वस्वरूपावस्थान ही मोक्ष है जो भगवत्साधर्म्य रूपी है । यह मोक्ष विष्णु के प्रसाद के बिना प्राप्त नहीं हो सकता । विष्णु अनन्य भक्ति द्वारा ही प्रसन्न होता है । मोक्षावस्था में भी जीव विष्णु के किंकर ही हैं ।

जैसे अद्वैतसिद्धान्त का निरूपण अनुष्टुप की एक आधी पंक्ति में करते हुए "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापर" कहा गया है वैसे ही संपूर्ण मध्वसिद्धान्त को एक शार्दूल विक्रीडित छंद में प्रस्तुत करते हुए व्यासराय स्वामी जी ने लिखा है —

श्रीमन्मध्वमते हरिः परतरः सत्यं जगत्तत्त्वतः
भिन्नाः जीवगणाः हरेरनुचराः नीचोच्च भावं गताः ।
मुक्तिर्नैजसुखा नुभूतिरमला भक्तिश्च तत्साधनम्
ह्यक्षादि त्रितयं प्रमाणमखिलाम्नायैकवेद्यो हरिः ।

(श्रीमन्मध्वमत में हरि ही सर्वोत्तम तत्त्व है, जगत् तत्त्वतः सत्य है, समस्त जीवगण हरि से भी भिन्न हैं, परस्पर एक दूसरे भी भिन्न हैं, उनमें नीचोच्च भाव है, सब के सब हरि के अनुचर हैं, नैज सुखानुभूति ही मुक्ति है, अमला भक्ति ही मुक्ति का साधन है, अक्षादि त्रितय प्रमाण हैं, हरि निखिलाम्नायों से वेद्य है) इस प्रकार अपने द्वैत सिद्धान्त को मध्वाचार्य जी ने अकाट्य तर्क की आधारशिला पर सुव्यवस्थित वेदान्त दर्शन के रूप में सुप्रतिष्ठित किया । इस समय तक दक्षिण कन्नड तथा उसके आसपास के तथा बाहरी प्रान्तों के हज़ारों पंडित इस नवीन मत के अनुयायी बन गये थे । उडुपि को मध्वमतानुयायियों का केंद्र बनाने के लिये वहाँ श्रीकृष्ण मठ की स्थापना की । पर्याय क्रम से उसकी सुव्यवस्थित पूजा और उत्सव आदि को चलाते रहने के लिये तथा द्वैतवेदान्त का निरंतर प्रचार करने के लिये आठ मठों की स्थापना करके आठ ब्रह्मचारियों को सन्यास दीक्षा देकर उन आठ मठों के अधिपति बनाया । स्वयं मध्वाचार्य के छोटे भाई सन्यास लेना चाहते थे । पाजक क्षेत्र में ही

कण्व तीर्थ के तट पर अश्वत्थ वृक्ष के नीचे अपने भाई को सन्यास दीक्षा दी और उन्हें विष्णु तीर्थ नाम से अंकित किया। उनके साथ ही सात व्यक्तियों को भी सन्यास दीक्षा दी। उनके नाम और मठ निम्न प्रकार हैं —

१. हृषीकेश तीर्थ–पलिमार मठ।
२. नरसिंह तीर्थ–अदेमार मठ।
३. जनार्दन तीर्थ–कृष्णापुर मठ।
४. उपेंद्र तीर्थ–पुत्तिगे मठ।
५. वामन तीर्थ–काण्यूरु मठ।
६. विष्णु तीर्थ–सोदे मठ।
७. राम तीर्थ–शीरूरु मठ।
८. अधोक्षजा तीर्थ–पेजावर मठ।

बाहरी प्रान्तों के मध्वमतानुयायियों को सुव्यस्थित करने के लिये शोभन भट्ट नामक विद्वानने जो पद्मनाभ तीर्थ नाम से सन्यासी बने थे, मठ की स्थापना की जो बाद में उत्तरादि मठ, व्यासराय मठ, सुमतींद्रमठ, और मुलबागल मठ नाम से चार शाखाओं में प्रस्फुटित हुआ। इन सब की परंपरा आज तक चली आ रही है। इस भान्ति सारी व्यवस्था करके स्वयं उनका निरीक्षण करते, उन्हें मार्ग दर्शन कराते मध्वाचार्य जीने अनुभव किया कि जिस उद्देश्य के लिये उन्होंने जन्म लिया था वह पूर्ण हो गया। अब इस भौतिक संसार से अदृश्य हो जाना चाहिये। इस संकल्प के बाद कुछ मास तक वे कण्वतीर्थ के तट पर रहे। वह पिंगल संवत्सर, माघ मास, शुक्ल पक्ष नवमी का दिन था। वध्वाचार्य जी उन्नासी साल की अवस्था पार कर चुके थे। उस दिन नित्यानुष्ठान के उपरांत शिष्यों के विशाल समूह को अपनी प्रिय ऐतरेयोपनिषद पर तन्मय होकर प्रवचन कर रहे थे। अचानक उन पर पुष्पों का एक आवरण सा गिर पडा। उसी में मध्वाचार्य अपने जीवन और उसके समस्त कार्यों को श्रीकृष्ण के चरणों में अर्पित कर अंतर्धान हो गये।

मध्वाचार्य जी के अनेक नाम हैं। जैसे— आनन्द तीर्थ, पूर्ण प्रज्ञ, अनुमान तीर्थ आदि। ये भिन्न भिन्न प्रसंगों में भिन्न भिन्न कारणों से प्राप्त नाम हैं। पर मध्वाचार्य नाम ही सर्वाधिक प्रसिद्ध है। पर यह अज्ञात है कि यह नाम कैसे पडा। संभव है मध्व शब्द का प्रत्यक्ष या परोक्ष संबन्ध उनके पिता के 'मध्यगेह से हो, अन्यत्र एक लेख में मध्व नाम की व्युत्पत्ति बनाने वाला निम्न श्लोक देखने को मिला —

"मध्विवत्यानद उद्दिष्टः वेति तीर्थमुदाहृतम्
मध्व आनंद तीर्थस्यात्तृनीया मारुती तनुः।"

मध्व मतानुयायियों में यह विश्वास है कि वासुदेव ही जो त्रेतायुग में हनुमान के रूप में और द्वापर में भीमदेव के रूप में अवतृत हुए थे इस कलियुग में मध्वाचार्य के रूप में आविर्भुत हुए हैं। वासुदेव के ये तीनों अवतार हरिसेवा के लिये अर्पित हैं, मध्वाचार्य के जीवन का प्रतिपल, हर्यर्पित है, उनका हर वचन हरिस्तुति हैं, हर कार्य हरिपूजा है।

उन्होंने भक्ति सम्प्रदाय को ऊपर उठाया और आगे बढ़ाया। भक्तिभाव से पूर्ण "द्वादश स्तोत्र" को राग, ताल, लयबुद्ध पद्धति से गाकर उपासना में आत्मा को तन्मय बनाने वाली संकीर्तन पद्धति को प्रचलित किया। कहते हैं कि उन्होंने तुळु भाषा में भक्ति परक कुछ पद भी लिखे थे। आगे के भक्त कवियों ने इस कीर्तन परम्परा को अपनी अनगिनत रचनाओं के द्वारा आगे बढ़ाकर कन्नड साहित्य को समृद्ध बनाया है। कहते हैं कि बंगाल के चैतन्य महाप्रभु ने जो मध्व के द्वैत सम्प्रदाय और भक्ति भाव से प्रभावित हुये थे अपनी संकीर्तन पद्धति इन्हीं से अपनायी थी। कर्नाटक में पहले से ही महा-भारत के प्रति विशेष लगन थी। मध्वाचार्य जी ने महाभारत को वेदों के समानधर्मी पवित्र ग्रन्थ घोषित कर, उसके गूढार्थों का विवेचन कर उस लगन को आस्था का रूप दिया और उसे अत्युन्नत शिखर तक पहुँचाया। इसका प्रभाव कन्नड और तेलुगु साहित्य पर जो पडा वह सर्व विदित है। रामानुज पंथी वैष्णवों में वाल्मी कि रामायण का जो महत्वहै वही महत्व मध्वमतानुयायियों

में महाभारत तथा भागवत का है। वेद शास्त्रों की गहानता में जो नहीं पैठ सकते वे भी उनके समस्तसार को एक महाभारत में अनायास पा सकते हैं।

जहाँ अन्य वैष्णव सम्प्रदायवालों में शिव के प्रति अनादर और उपेक्षा भाव है वहाँ मध्वाचार्य जी ने हरिपारम्य को मानते हुए भी हर के प्रति भी आदर भाव दिखाया है। वे स्वयं शिवमन्दिरों में जाते थे और पूजा करते थे। उनकी इस उदार नीति को उनके अनुयायी भी आज तक निभाते आ रहे हैं।

मध्व ने जगत् को सत्य घोषित कर, मायावाद का खंडन कर लौकिक जीवन और सब व्यवहार के मूल्य को ऊपर उठाया है, जीवन के प्रति एक सुदृढ़ आस्था उत्पन्न की है।

संसार के अन्यान्य महापुरुषों की भान्ति मध्वाचार्य जी के जीवन की भी अनेक अलौकिक घटनाओं के सम्बन्ध में बदंतियाँ प्रचलित हैं। इन पर कोई विश्वास करे या न करे यह अपनी अपनी श्रद्धा या अश्रद्धा का विषय है। परन्तु उनकी जीवनी से अलौकिक घटनाओं को अलग करें तो भी दार्शनिक क्षेत्र में उनसे की गयी साधनाओं से और उनको मिली हुई सिद्धियों से भी वे एक युगप्रवर्तक महापुरुष प्रमाणित होते हैं—एक ऐसे महापुरुष जिसने भारतीय चिंतनधारा को नयी मोड़ दे दी, दार्शनिक दृष्टि को नया आयाम दिया।

लेखक : **जनार्दन एल्लूरु, मद्रास**